भारतीय सौन्दर्यशास्त्र की भूमिका

फतहसिंह,
एम० ए० डी० लिट



नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली

प्रथम संस्करण
मई १९६७

मूल्य रु० ७.५०

प्रकाशक नेशनल पब्लिशिंग हाउस
चन्द्रलोक जवाहर नगर दिल्ली ७।
बिक्री-केन्द्र नई सड़क दिल्ली ६
मुद्रक शाहदरा प्रिंटिंग प्रेस दिल्ली ३२।

अपनी
स्वस्तिमयी
जननी
के चरणों में
सश्रद्ध समर्पित

दो शब्द

इधर हिन्दी में 'सौन्दर्य' की चर्चा होने लगी है। इस विषय पर दो चार ग्रन्थ भी निकल चुके हैं। प्रायः यह कहा जा रहा है कि अपने देश में कभी सौन्दर्य पर विचार ही नहीं हुआ। कुछ लोगों ने पण्डितराज जगन्नाथ को अवश्य 'रमणीयता' नाम से सौन्दर्य का उल्लेखमात्र करने का श्रेय दिया है परन्तु अन्यत्र भारतीय वाङ्मय उनकी दृष्टि में सौन्दर्य मीमांसा से सर्वथा शून्य है। वस्तुतः यह पूर्ण सत्य नहीं है।

सौन्दर्य निस्सन्देह मनोविज्ञान एवं परामनोविज्ञान का विषय है और इन दोनों शास्त्रों की जितनी ऊहापोह इस देश में हुई है वह अद्भुत है। आगम और निगम, षड्दर्शन तथा वैयाकरण दर्शन, जैन एवं बौद्ध दर्शन, साहित्यशास्त्र और संगीतशास्त्र, मूर्तिकला और चित्रकला—इन सभी की मीमांसा के मूल में मनोविज्ञान तथा परामनोविज्ञान की जो ऊँची ज्ञान-परम्परा निहित है उस पर थोड़ा विचार करने पर भी स्पष्ट हो जाता है कि भारत में सौन्दर्यशास्त्र जैसे किसी पृथक् शास्त्र का निर्माण न होने पर भी 'सौन्दर्य-तत्त्व' की अच्छी मीमांसा हुई है।

इस प्रसंग में आश्चर्य की बात यह है कि इस विषय पर सर्वोत्कृष्ट और सर्वाधिक चर्चा ऋग्वेद के काव्य में है। इस कथन पर लोग नाक भौं सिकोड़ेंगे क्योंकि वेद को प्रायः किसी आदिम और जंगली जाति की निम्नस्तरीय कृति माना जाता है। खेद है कि डा० आनन्दकुमार स्वामी और महर्षि अरविन्द के वेदविषयक लेखों के बाद भी यह भ्रम बना हुआ है। अतः प्रस्तुत ग्रन्थ में वैदिक प्रतीकों की व्याख्या करते हुये यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि ऋग्वेद में ऊ, सु, सोम, स्वस्ति आदि प्रतीकों के मूल में कैसी उच्चकोटि की सौन्दर्य मीमांसा उपलब्ध होती है। इस विषय में ऋग्वेद का नवम मण्डल सर्वाधिक महत्त्व का है परन्तु वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का मूलाधार का विषय है। आशा है प्रस्तुत ग्रन्थ उसके समझने के लिए भूमिका का कार्य करेगा। लेखक अपने प्रयत्न में कहाँ तक सफल हुआ है यह तो पारखी विद्वान ही बतलायेंगे।

रामनवमी, २०२४ वि०   फतहसिंह

अनुक्रम

पूर्व पीठिका

जैसा कि संवत् २००६ में लिखित 'वैदिक दर्शन' में संकेत किया गया था, ऋग्वेद में उत्कृष्ट सौन्दर्य मीमांसा की सामग्री विद्यमान है। इसी दृष्टि से 'भारतीय सौन्दर्यशास्त्र का मूलाधार' नामक ग्रंथ लिखा गया है। इस ग्रंथ का आकार बड़ा होने से, इसके प्रकाशन की व्यवस्था में समय लगेगा। अतः प्रस्तुत पुस्तक (जो स्वयं में पूर्ण है) उसी ग्रंथ की भूमिका के रूप में प्रस्तुत की जा रही है। इसका आधार मुख्यतः ऋग्वेद है अतः इसमें प्रतिपादित मतों को प्रामाणिक बनाने के लिए वैदिक उद्धरण अथवा संदर्भ निर्देश आवश्यक हो गये हैं परन्तु जहाँ इससे वैदिक विद्वानों को पुस्तक में स्थापित मतों की परीक्षा करना सुगम होगा वहाँ साहित्य के साधारण विद्यार्थियों को इससे कुछ असुविधा हो सकती है। इसलिए पुस्तक को अधिक सुबोध एवं उपयोगी बनाने के लिये, यहाँ पर पुस्तक की पृष्ठभूमि और स्थापना का सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

वैदिक सौन्दर्यतत्त्व स्वस्ति या सोम

वेद में सौन्दर्य-तत्त्व को 'स्वस्ति' की संज्ञा दी गयी है। अतः वेद में मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य 'स्वस्तिमान्'[1] होना है। स्वस्ति शब्द 'सु' और 'अस्ति' के योग से बना है। 'सु' का अर्थ है सुंदर और 'अस्ति' सत्ता का द्योतक है। स्वस्ति का अर्थ है सत्य सुंदर या सुंदरसत्य। साधारणतया हम 'अस्ति' का प्रयोग वर्तमान 'सत्ता' के लिये करते हैं, परन्तु जो वर्तमान में है (अस्ति) वह अतीत में थी (आसीत) या नहीं थी (नासीत्) और भविष्य में होगी (भविष्यति) या न होगी (न वा भविष्यति) अतः इसको केवल खण्ड सत्य ही कह सकते हैं और मानव मन द्वारा इसी को जानने का प्रयत्न किया जा सकता है। अखण्ड सत् तो एक है जो खण्डशः अनेक नामों से जाना जाता है (१,१६४,४६), परन्तु अखण्डरूप में भूत भविष्यत एवं वर्तमान की खण्ड परिधियों से बाहर होने के कारण वह मन द्वारा (१,१७०,१) सर्वथा अप्राप्य है। स्वस्ति अपने अव्यक्त और अखण्ड रूप में उत्तम ज्योति देव (१,५०,१०) है जिस तक हम एक अन्य उत्तर ज्योति को देखते देखते पहुँचते हैं। यही हमारे व्यक्तित्व का

---

१ कृत न स्वस्तिमन (१,१०,५)

सूक्ष्मतम स्तर तथा सवितृ का श्रेष्ठ वरेण्य भाग (१० ३५,७) है जिसे उपनिषद में आनन्दमय तथा ऋग्वेद और अथर्ववेद में हिरण्यय पुरुष कहा गया है। इसी को कभी कभी महत् ब्रह्म, उत्तम अमृतत्वम् (१ ३१ १) महत् नाम गुह्य (१०,५५ १) देवत्व नाम तथा महत अक्षरम् (३ ५५,१) आदि नपुंसकलिंगीय संज्ञायें दी गई हैं। इसी उत्तम अमृतत्व के लिये मानव प्यासा (तृषाण) है और इसी को प्राय अभय पद अथवा स्ववती ज्योतिर्मय स्वस्ति कहा जाता है। यह अव्यक्त होने से गुह्य, अपोच्य निण्य परात्पर भी है। यही परम अव्यक्त सत्य बृहत् स्व अन्तर्निहित सूय अथवा अक्षर लोक है। यह जिन सात रूपों में व्यक्त होता है उन्हें वेद में सप्तरश्मियाँ सप्त सिंधु सप्त वाणी आदि नाम दिये गये हैं। यही सत्य तप जन मह स्व भुव तथा भु नामक लोक भी है।

अव्यक्त से व्यक्त

परम सत्यरूपी सूय हमारे अव्यक्त आनन्दमय स्तर से जब व्यक्त होता है तो वह नपुंसकलिंगी न रहकर पुलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग सूय और सूर्या, वृषा और धेनु कश्यप और अदिति अथवा शक्तिमान् और शक्ति के रूप में परिणत हो जाता है। दूसरे शब्दों में परम सत्य व्यक्त होते ही केवल सत्य न रहकर ऋत च सत्य च हो जाता है स्वस्ति अब अस्ति एवं भवति में परिणत हो कर ऋतस्य प्रवाचन हो जाता है जिसका मनुष्य मनन करते हैं (१०,३५,८)। स्वस्ति की इसी द्वैतपूर्ण अभिव्यक्ति को ऋग्वेद में सूय की वह सत्योक्ति (१० ३७,२) बतलाया गया है जो हमारे भीतर विश्राति एवगति सूर्योदय एव आप (१० ३७ २ ३) अधकारनाश तथा सक्रियता (१०,३७,४) प्रदान करती है। इसी सत्योक्ति को सूय के वचन की भी संज्ञा दी गई है और यही वह उदीयमान मित्रमह सूय है जिसका शाश्वतदर्शन सभी जीवों (१०,३७ ७) के लिए अभीष्ट है क्योंकि यह बृहत् तेज पर आरोहण करता हुआ वह सूय है जो महान् ज्योति एवं भास्वर सोदय को धारण किए हुए है (१० ३७ ८)।

आनन्दमय स्तर की यह प्रथम अभिव्यक्ति हमारे अस्तित्व के जिस स्तर पर होती है उसे उपनिषद में विज्ञानमय कहा गया है। दूसरी अभिव्यक्ति का स्तर हमारा मनोमय है। यही हमारे दो जन्म हैं जिनमें से पहले में द्विपद अभिव्यक्ति और दूसरे में चतुष्पद (१० ३७ ११) पहली द्विपदा वाक है, क्योंकि इसके केवल दो पद हैं आनन्दमय का अव्यक्त पद और विज्ञानमय (कारणशरीर) का अर्द्धव्यक्त पद परन्तु दूसरी चतुष्पदा वाक है क्योंकि इसके

उक्त दो पदो के अतिरिक्त दो अन्य पद, अर्थात मनोमय (सूक्ष्मशरीर) तथा स्थूलशरीर (प्राणमय अन्नमय) भी हैं। वाक (अभिव्यक्ति) के इन चार परिमित पदो में से आनन्दमय विज्ञानमय तथा मनोमय ये तीन तो गुहा में छिपे हैं, और चौथा स्थूल शरीर वाला ही पूर्णतया व्यक्त (१ १६४ ४५) है।

मनुष्य देह मे आकाश, अंतरिक्ष और पृथिवी

मनुष्य का व्यक्तित्व अथवा पिण्डाण्ड बाह्य विश्व या ब्रह्माण्ड का प्रतिरूप है। इसका मनोमय सूक्ष्मशरीर 'द्यौ' और स्थूलशरीर का स्थूलतम भाग पृथिवी है, इन दानो के बीच प्राणमय भाग अंतरिक्ष कहलाता है और मनोमय तथा आनन्दमय के बीच जो विज्ञानमय कारण शरीर है उसे 'उरु अंतरिक्ष' की संज्ञा दी गई है। इसी 'उरु अंतरिक्ष' में आनन्दमय का उत्तम ज्योति देव' सूर्य उत्तर ज्योति होकर व्यक्त है—अखण्ड सत्य स्वस्ति को ऋत के सत्य का रूप प्राप्त होता है। इसी का सुन्दर शब्दों में वर्णन करते हुये महर्षि अरविन्द ने लिखा है "इसी अतिमानस वृहत स्तर पर हमारी सत्ता का मूलभूत सत्य अपने सक्रिय सत्य को एक परिपूर्ण एवं निर्दोष गति के रूप में बिना किसी प्रयत्न संघर्ष के स्वाभाविक ढंग से उडेल देता है क्योंकि इन ऊंचाइयों पर कोई विभाजन, चेतना और बल के बीच कोई भेद ज्ञान एवं संकल्प के बीच कोई अलगाव, हमारे अस्तित्व और उसकी चेष्टा के बीच कोई समन्वयहीनता नहीं है वहाँ सब कुछ 'ऋजु' है और वहा अनार्जव की तनिक भी संभावना नहीं। इसलिये वास्तविक सत्ता और बृहत्ता का यह स्तर ऋत (अर्थात् वस्तुओ की वास्तविक क्रिया) भी कहलाता है। यह ऋत गति, क्रिया अभिव्यक्ति का एक चरम सत्य संकल्प हृदय और ज्ञान का अचूक सत्य विचार वाणी और भावना का एक परिपूर्ण सत्य है यह एक स्वयंभू सत्य, स्वतन्त्र नियम वस्तुजात की मूलभूत दिव्य व्यवस्था है जिसे अभी विभाजित एवं पार्थक्यशील चेतना ने स्पर्श नहीं कर पाया। यह एक मूलभूत एकत्व से होने वाली वह दिव्य एवं स्वयं प्रकाशित सश्लिष्टि है, जिसकी केवल तुच्छ आंशिक, भग्न एवं विकृत खण्डना एवं विश्लिष्टि के रूप में हमारा क्षुद्र अस्तित्व विद्यमान है। यह वैदिक उपासना का सूर्य प्रकाश का स्वर्ग अदितिपुत्र सूर्य का शरीर है जिसके लिये पितर कामना करते हैं।'

अदिति और आदित्यो के दो युग

यह सूर्य रूपी सत्य या आत्मा जिस ज्योतिमयी शक्ति द्वारा अपने को व्यक्त करता है वही परा वाक या अदिति आदित्यो की माता है। ऊपर हमारे

जो दो ज म बताये गये हैं वे ही क्रमश पूय या उत्तर युग तथा न०य युग ह जिनम वह आदित्यो को ज म देती है—पूव्य युग (विज्ञानमय) म वह सप्त पुत्र (सात सूय) को रखती है और आठवें पुत्र को मनोमय स लेकर अन्नमय तक के मृत्यु लोक म रहने वाली प्रजाओ के लिय लाती है—मृत्यु लोक स सम्ब ध होने क कारण सभवत यह मार्ताण्ड (१० ७२ ७ ६) कहलाता है। ये आठो आदित्य उसी सूय के आठ रूप हैं जो परम सत्य है और उत्त आन द मय' कोश रूपी समुद्र म गूढ (१० ७२,७) था और जो विज्ञानमय कोश म अपन उक्त सात अशो को मानो सात किरण रूप म करके सप्तरश्मि सूय अथवा अगोह्य[1] सूय हो जाता है। यह वस्तुत सत्य के ऋत का मेल है, अत सभी आदित्य या दव ऋतजात (३,५४ १३, ५ ६१,१४ ७,६६ १३) ऋतजात सत्य (४ ५१ ७) ऋतन (७ ३८ ८) अथवा ऋतवान (१ ७७,१ २ २४ ७) हैं यही ऋत मूल कम अप है जो 'स्वाधिष्ठाधीति तथा विश्वदव्य समुद्र (१ ११०) कहलाता है जो अनक अपासि के रूप म विस्तार पाता है। यह प्रथम अप इन्द्र का चित् अप (६ ३०,३) सविता का विकृत अप (२ ३८ ६) अग्नि का 'अनुल्वण अप (१० ५३ ६) अथवा अ य देवो का (७ २० १, ४० ४, ३५,१) अप (कम) वस्तुत मानसिक अथवा अतिमानसिक दि य कम है जसा कि उसके स्वादिष्ठाधीति, चित् अश्वदे य समुद्र' आदि विशेषणो स स्पष्ट है। यह कम (अप) हमार भौतिक अस्तित्व क समस्त कर्मों का अनुस्यूत एकीकृत रूप है जिसको अनुस्यूत करनवाली 'अच्छिद्यमाना सूची (२,३२ ४) वही अदिति वाक अथवा सत्यरूपी सूय की शक्ति सूर्या अथवा प्रथम उषा है इसी पू य अप को 'शतदाय्य' वीर (२ ३२ ४) कहत हैं क्योंकि यही न य युग म सकडो वीरो (दि य कर्मों) म परिणत हो सकता है। यह अप अपने एक रूप म शुष्क अग्नितत्त्व माना जाता है दूसरे रूप म वह सरस सोमतत्त्व है और इस रूप म वह जलरूप अप [2] अथवा 'आप कहलाता है जिसकी कल्पना 'अश्व रूप म की गई है। इन दोनो क सयुक्तरूप म वही अप इन्द्र-तत्त्व है जिसको गो भी कहा गया है। अप क य त्रिविधरूप आगम-परम्परा म क्रमश क्रिया इच्छा और

---

१ ऋ० १,१६१ ११ १३, १३०,३, ४ ३३,७, ८,८८,४, १०,६८ ६

२ जन ग्रथ मे अप ' शब्द का स्वर बदल जाता है, परन्तु दोनो क पारस्परिक सम्ब ध का सकेत ऋ० २,१०४ क अपास और ६,३०,३ क नर्मीलाप से देखा जा सकता है।

चानशक्तियाँ हैं, वेद में इनके प्रतीक क्रमशः वीर अश्व तथा गौ हैं और इनके सदर्भ में सत्य रूपी आत्मा को क्रमशः अग्नि सोम तथा इन्द्र कहा गया है।

अदिति दिति और उषारात्रि

सूर्य रूपी सत्य आत्मा की सूर्या शक्ति के दो पक्ष हैं—एक प्रकाश और दूसरा अंधकार, एक उषा दूसरा रात्रि। अतः सूर्यायुक्त सूर्य के भी दो पक्ष हो जाते हैं एक शुक्ल एतश और दूसरा हरित। स्वस्ति सोम रूप आत्मा के भी सु एवं असु के आधार पर वेद में सुर और असुर या सुनीति एवं असुनीति की कल्पना मिलती है। अदिति और दिति तथा उनके पुत्र आदित्य और दैत्य भी इसी प्रकार मूल सत्ता के दो पक्षों की ओर सकेत करते हैं। इन दोनों पक्षों का अविनाभाव सम्बन्ध है परन्तु जब प्रथम पक्ष का प्राधान्य होता है तो दूसरा पक्ष अभिभूत होकर रात्रि उषा में हरित ऐतश में, असु सु में, असुर सुर में, अदेव देव में, असुनीति सुनीति में दिति अदिति में और दैत्य आदित्य में परिणत होकर द्वन्द्वातीत निरपेक्ष एवं निष्कल सत्ता का उदय होता है, यही परम सत चरम सत्य, निर्गुण ब्रह्म या आत्मा उत्तम अमृतत्व, महत् देवत्व महत् अक्षरम् आदि नामों से वर्णित होता है। इसके विपरीत जब दूसरा पक्ष प्रथम को अभिभूत करने में समर्थ होता है, तो उषा कृष्णरात्रि में, ऐतश कृष्ण हरित में, सु 'दुर असु' में सुर या देव अहि या वृत्र में, सुनीति 'निर्ऋति असुनीति' में तथा अदिति और आदित्य क्रमशः दिति और दैत्य में परिणत होकर प्रकाशात्मा सत्य के शुक्ल सूर्य को 'कृष्ण या मार्ताण्ड' बना देते हैं।

मृत लोक और अमृत लोक

इस मार्ताण्ड के साम्राज्य में, हमारा आत्मा अमृत से मृत हो जाता है और हमारा व्यक्तित्व अमृतलोक से मृत लोक हो जाता है। अमृत आत्मा रूपी सत्य सूर्य के अस्त हो जाने पर, आप, गौ, वीर अश्व आदि सब अंधकार में छिप जाते हैं केवल अग्नि कुछ प्रकाश देता है परन्तु धूम्र से आवृत होकर, सोम के बिन्दु टपकते हैं परन्तु कृष्ण सोम होकर, क्योंकि अग्नि और सोम क्रिया और इच्छा के बिना तो इस मृत्युलोक का भी अस्तित्व सम्भव नहीं। यह घोर कृष्णा रात्रि जब उषा रात्रि में परिणत होती है और उषा इस 'मृत जीव' (१ ११३, ८) को उत्प्रेरित और बोधित करती है विश्व जीव को आचरणार्थ जगाती हुई मनायु विश्वजीव को 'वाक्' (१, ६२ ६) प्राप्त करती

है अथवा मृत जीव को 'पर असु' के रूप में जीवित करती है तभी यह जीव मनुष्य बनकर अपने मन्त्र, सूक्त धीति स्तुति आदि के साथ यज्ञ करने में समर्थ यजमान होकर देवों और देवशक्तियों का आह्वान करता है और अन्ततोगत्वा इन्द्रादि के जन्य द्वारा वृत्र का वध कराकर आप, स्व गा आदि को मुक्त कराता है और उत्तर ज्योति प्राप्त करके उत्तम ज्योति अथवा अमृतत्व या स्वस्ति का अधिकारी होता है।

मनुष्य का स्वरूप—अत मनुष्य दो तत्वों का सगम है—एक मर्त्य है, दूसरा अमर्त्य (१ १६४, ३० ३८), एक शरीर है, दूसरा जीव इनमें से एक को तो सब जानते हैं, परन्तु दूसरे को नहीं (१, १६४, ३८)। जीव और शरीर मिलकर ऐसे एक (सयानि) हो गये हैं कि जीव शरीर को ही 'स्व' समझने लगा है इसी समझ (बुद्धि) को 'स्वधा' कहते हैं और इसी स्वधा से युक्त होकर जीव (१ १६४, ८) ऊर्ध्वगति या अधोगति का भागी होता है। जीव शरीर के प्रत्येक अग प्रत्यग में स्व बुद्धि रखता है अत स्वधा एक ही नहीं अनेक भी कही जा सकती है (१ १६४ ३०) इन्हीं स्वधाओं से युक्त होकर जीव कर्म करता है। हमारे शरीर के प्रत्येक अग में एक सारभूत शक्ति है वह अग का 'रस' है। अगों के इन रसों (सारभूत शक्तियों) को अगिरस[1] कहा जाता है। हमारे शरीर के सभी अग उसी अन्न से बने हैं जिसे हम खाते पीते हैं। अन्न को ऋग्वेद में 'पितु' भी कहा जाता है सम्भवत पितु के सबध से ही अगिरस को पितर भी कहा गया है पितरों का सम्बन्ध भी वेद में स्वधा से है।

अन्न से बना हुआ हाड मास का शरीर हमारा अन्नमय स्तर है। अन्नमय के अगों की सारभूत शक्तियाँ (जिन्हें ऊपर अगिरस या पितर कहा गया है) वस्तुत हमारे प्राण[2] हैं, अत अन्नमय के कण कण में व्याप्त हमारा प्राणमय स्तर माना गया है। अन्नमय और प्राणमय स्तरों से मिलकर हमारा 'स्थूल शरीर' बना है। क्रिया प्रधान होने से, स्थूलशरीर में नाना प्रकार के ज्ञान भाव मय कर्म होते रहते हैं, जिन्हें वैदिक भाषा में 'अप' या आप भी कहा जाता है। कर्म शरीर से जीव के सम्पर्क से ही होते हैं। इसीलिये स्थूलशरीर में

---

१ अङ्गानां रस प्राणो वा अङ्गानां रस आङ्गिरसोऽङ्गानां रस (श० ब्रा० १४ ४, १, ६ २१)
२ प्राणो वा अङ्गिरा (श० ब्रा० ६, १, २, २८, ६, ५, २, ३ ४)

जाव को 'अपो वमान'[1] (अप को आच्छादित करने वाला) अथवा 'अपानपात'[2] कहा जाता है और आप[3] को अपानपात् से युक्त बतलाया जाता है। आप या अप शब्द संस्कृत में जल का वाचक है, अतः कर्मवाचक 'अप' को भी जल के रूपक द्वारा व्यक्त किया जाता है। एक स्थान पर इनकी कल्पना ऐसे समुद्रों के रूप में की गई है जिनमें सारा विश्व और समस्त दिशायें जीवन प्राप्त (१ १६४, ४२) करती हैं। यही 'देवी आप' हैं जिनमें प्रविष्ट 'जीव' वैश्वानर अग्नि (७ ४९ ४) कहलाता है। अनेक आप (कर्मों आदि) में प्रविष्ट इस अग्नि के अनेक रूप (अग्नय) हो जाते हैं (१, १६४ ४१) यह एक ही जीव रूपी देव अनेक देवों या जनिष्ठों में परिणत हो जाता है एक विश्वायु देव सम्पूर्ण देवों (विश्वे देवा) के रूप में होकर कर्मों (अपांसि) को करता है (१ ६८, २ ३)।

स्थूलशरीर का बिम्ब मनायु (१, ९२ ८) भी कहलाता है क्योंकि मन इसमें मिश्रित (१, १३८, १) है। यह मन हमें प्राणरूपी पितरों (१०, ५८ ५) के माध्यम से प्राप्त होता है यही नर हैं जो अग्नि रूपी जीव की सेवा (१, ७०, ५) करते हुए बह जाते हैं, और यही पितर हैं जिनके कारण वह विश्वपति (१, १६४, १) विश्व (पिता न विश्व) कहलाता (१ ७० २) प्रतीत होता है। स्थूलशरीर के विश्व में मिश्रित रूप मन में ही मनोमय स्तर निर्मित होता है। यही सूक्ष्म शरीर है जो मननशील होने से मनु है। इसी के सम्पर्क से स्थूलशरीर 'मनुष्य' संज्ञा प्राप्त करता है और उसमें स्थित प्राण रूपी नरों को मनुष्यों का नाम दिया जाता है। मन के मिश्रण से ही स्थूलशरीर का पोषण सम्भव है अतः जीव के इस पोषणकारी पक्ष का पूषा अथवा मरुद् देव (१ १३८, १) कहा जाता है। मरुत् अन्न का एक नाम है वस्तुतः मनोमय के इस मिश्रण अथवा विस्तार को ही मनु मन कहते हैं जो विश्व[4] (जीव) में से अनेक तन्तुओं के द्वारा 'वितत' है सैकड़ों देवकर्मों द्वारा आयत है और जिसके तान बान को बुनने का काम पितर (प्राण) करते हैं। मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय स्तरों को क्रमशः द्यौ अंतरिक्ष तथा पृथिवी के प्रतीकों द्वारा भी व्यक्त किया जाता है, इन तीनों स्थानों में क्रमशः प्रत्येक में ग्यारह

---

१ १, १६४ ३१ ४७, अ वे १०, ७,७

२ १०, ३०, १४ १०, ३०, ३

३ १०, ३०, १४

४ यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशत देवकर्मभिरायत ।
इमे वयन्ति पितरो य आययु प्रवयाप वयेत्यासते तते (१ १३०, १)

ग्यारह देव इस यज्ञ का सेवन करते है (१, १४०, ११), ये देव सम्भवत दस इन्द्रियां सहित मन के विविध रूपान्तर मात्र है। ये तेंतीस देव इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्ति के त्रिविध भेद से ९९ हो जाते हैं इन सब की समष्टि को सौवाँ देव कहा जा सकता है। इन्ही सौ देवों के सक्रिय विस्तार से उक्त मनोमय मनुयज्ञ हमारे सूक्ष्म और स्थूल शरीरो में चल रहा है।

इस मनोमय यज्ञ की विविधरूपों में कल्पना की गई है। ऋ० १०, ८५ १० १२ में इस मनोमय गाडी (अनो मनस्मय) कहा[1] गया है, जिसका धुरी (अक्ष) प्राणमय तथा दो पहिये क्रमश मनोमय तथा अन्नमय स्तर की इन्द्रिय (श्रोत्र) शक्ति है। अन्यत्र इसको एक पहियेवाले रथ के रूप में देखा गया है और मनोमय प्राणमय तथा अन्नमय स्तरों को उस एक पहिये की तीन नाभियो के रूप में (१ १६४ २) माना गया है इसी त्रिनाभि अजर चक्र में मनोमय से लेकर अन्नमय तक के सारे भुवन (विश्वा भुवना) स्थित है (१ १६४,२)। यही वह होत्र है जिसको ऊर्जाग पञ्चजन (कर्मेन्द्रियाँ) और गोजात पञ्चजन (ज्ञानेन्द्रियाँ) सेवन (१० ५० ४ ८) करते हैं। यह प्रथम यज्ञ (होत्रा) है जिसको मनु मन के द्वारा (मनसा) सप्त होताओ (१० ६३ ७) के साथ आदित्यों के लिए करते हैं। ब्राह्मणो और उपनिषदो के अनुसार ये सप्त होता सप्त शीर्षण्य प्राण हैं जो दो चक्षुओ दो श्रोत्रो दो नथुनो तथा एक मुख के रन्ध्र में हमारे मनोमय यज्ञ में आहुति डालते रहते हैं। वस्तुत एक ही प्राण-शक्ति इन सात रूपो में व्यक्त होती है अत स्पष्ट कहा गया है कि यह एक रथ है जिसमे लगने वाले सात अश्व वस्तुत सप्तनामधारी एक ही अश्व[2] है। यह त्रिविध सप्तचक्र रथ है जिसपर स्थित सप्त अश्व इसको खींच रहे हैं (१ १६४ ३) चक्षु आदि उक्त सप्त इन्द्रिय स्थानो में स्थित सप्तविध ज्ञान-शक्ति ही सम्भवत वे सात बहनें हैं जो इस रथ मे चारो ओर से आकर एकत्र होती हैं (१ १६४ ३) और यही वे सात गायें हैं जिनके सात नाम उक्त बहनो के सम्मिलन-स्थान में निहित बताए गए हैं।

मनोमय से लेकर अन्नमय तक होने वाले बृहत् यज्ञ अथवा यज्ञो का कर्ता वस्तुत एक ही मनोमय जीव या मनु है जो अमर्त्य होते हुए भी मर्त्य (स्थूल शरीर) के साथ सयोनि होकर कार्य करने वाला कहा गया है परन्तु इस जीव का एक रूप और है जो प्रथम अध्रुव से विपरीत ध्रुव है अत दोनों के अन्तर को व्यक्त करने के लिए प्रथम को जीव (पुलिंग) और दूसरे को जीवम्

---

[1] ऋ० क० यज्ञो वा अन (श० १, १ २ ७ ३, ६, २ २)

[2] सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा (१, १६४, २)

(नपुंसक लिंग) कहा जाता[1] है। जीव पालित पुत्र है और जीवम् उसका पालक पिता[2] पहला पलित वाम अथवा वाम देव[3] है तो दूसरा उसका गर्भ[4], प्रथम को वाम नामक पक्षी माना गया है तो दूसरे को उस पक्षी का गुप्त (निहित) पद[5]। वाम का यह गुप्त पद या गर्भ रूपी जीवम् वस्तुतः मनोविज्ञान की दृष्टि से हमारा विज्ञानमय स्तर है जो मनोमय (सूक्ष्मशरीर) का भी कारण होने से कारणशरीर कहलाता है। इसी से देव मन का जन्म (१, १६४ १८) होता है जिससे सन्नद्ध होकर जीव स्थूलशरीर (प्राणमय और अन्नमय) में (१ १६४ ३७) छिपा हुआ (निण्य) कर्म करता है। इस विज्ञानमय स्तर के दो ध्रुव (Poles), पर और अवाक (१ १६४ १६) माने गये प्रतीत होते हैं जिनकी तुलना आगमों के उन्मन और समन से की जा सकती है। प्रथम ऊर्ध्व मुख अर्थात् मन से विज्ञान परे है तो द्वितीय अधोमुख अर्थात् मन की ओर उन्मुख है—एक केन्द्रोन्मुख है तो दूसरा विकेन्द्रोन्मुख। इन दोनों ध्रुवों के मध्य ऊ की कल्पना की गई है जहां विज्ञानमयस्तरीय संयुक्त तत्वों के दोनों रूप, पराञ्च और अर्वाञ्च उन्मन और समन अथवा केन्द्रोन्मुख और विकेन्द्रोन्मुख एकत्र होते हैं (१ १६४ १६)—इन दोनों रूपों के दो लोक हैं पहला लोक उच्च बृहत् नाक अमर परम व्योम आदि कहलाता (१ १६ ३६ ४१) है। और दूसरा मह, व्योम अपो (१, १६४, ४० ४६) आदि नाम ग्रहण करता है यही दोनों क्रमशः शुक्ल प्रयाण (४ ४६ ७ ५ ४६ ७ ५ ८१ २, ८ ४१ ६) एवं कृष्ण नियान (१ १६४ ४७ १० १६ ४ १४७ ५) हैं जो परवर्ती साहित्य में सम्भवतः उत्तरायण तथा दक्षिणायन कहलाते[6] हैं। इन्हीं दोनों के सन्दर्भ में जीवात्मा को क्रमशः दिव्य सुपर्ण वायस बृहन्तम् (१ १६४ ५२) एवं 'अपो दिव्य सुपर्ण गरुत्मान् (१ १६४ ४६) कहा गया है जो पौराणिक काकभुशुण्ड और गरुड़ माने जा सकते हैं। प्रथम रूप में जीवात्मा अपने विश्व में सूर्य की उत्तर ज्योति के सान्निध्य में रहता है अतः वह उसको देवता हुआ उत्तम ज्योति (अग्नि) तक पहुंच सकता है। इस जीवात्मा का शुक्ल

---

१ अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।
जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ (१ १६४ ३०)

२ १, १६, १८ १६

३ १, १६४, १

४ वै० द० पृ०

५ १, १६४, ७

६ तु० क० भाग्य भा० १ १६४, ४७ ।

देवयान या उत्तरायण म य है क्योंकि यहाँ सत्य स्वस्ति का सूय सदव सीधा प्रकाशमान है। अपन दूसरे रूप म जीवात्मा को सत्य स्वस्ति का सूय सीधी किरणो द्वारा प्रकाशित नहीं करता क्योंकि इसकी दृष्टि ऊर्ध्वमुखी न होकर अधोमुखी होती है उत्तराभिमुख न होकर दक्षिणाभिमुख होती है। प्रथम म स्थूल देह के भोगो म स्व बुद्धि का त्याग करने म दिव्य 'स्वाहा' देवलोक की ओर ले जाती है जबकि दूसरे म स्थूल भोगो आदि म स्वबुद्धि होन स 'स्वधा अधिक स अधिक पितृ (अन्नमयकोश) की पुष्टि करती हुई पितृलोक तक ले जा सकती है। दूसरे म काम, क्रोध, मद, लोभ मोह आदि का पूण अन्त नहीं होता सौन्दय सूय स्वस्ति के आवरक तत्त्व उसका शाश्वत दशन नहीं होने देत परन्तु प्रथम रूप मे यह आवरण पूणतया हट जाता है और वह कह उठता है कि—

उद्वय तमसस्परि ज्योतिष्पश्यन्त उत्तरम्।
देव देवत्रा सूयमगन्म ज्योतिरुत्तमम् (१, ५०, १०)

हमने अधकार से ऊपर उत्तर ज्योति का पूणतया देखते हुए देवो के मध्य उत्तम ज्योति सूय देव को प्राप्त कर लिया।

अर, अय और आय

इस उत्तम ज्योति को कभी कभी आय ज्योति[1] भी कहा जाता है। इस की प्राप्ति कोई सरल काय नहीं है और न उसके लिये छलांग ही लगाई जा सकती है। इसकी प्राप्ति के लिए पहल मानव देह रूपी वेदि को 'अर करके उस म अमृतवतन यज्ञ (१ १७१ ४) करना आवश्यक है। यह अर वस्तुत मह सु (महान् सौ दय) है (८ ४६ १७) जिसके द्वारा न केवल वह्नि अपितु इन्द्र सोम अग्नि (७ २६ ८ २४ २७) गो अश्व (४ २ २४ १५ ७) आदि सभी अर हो जाते हैं दूसरे शब्दो म हमारी समस्त इच्छा ज्ञान क्रिया शक्तियो का तन्तुजाल अर होकर हमारा मन अश्मनस निराम एव सहस्रभृष्टि वज्र बनकर अहि (वृत्र) के वध (६ ७ १०) में समय होता है। यह अरकृति तभी प्राप्त होती है जब वह सोम-तत्त्व हमारे मन तथा उसके द्वारा हमारे अस्तित्व के समस्त स्थूल भुवन को अर करे (१ १ ८, ?) जिसे ऊपर मह सु कहा गया है। यह अरकरण ही वस्तुत अलकरण है जिसका अथ है इच्छा क्रिया ज्ञान को मनसा वाचा कमणा शुद्ध

1 ऋ० १०, ४३ ४

करना है। यह अलकार ही वस्तुत सौन्दय है क्योंकि इसके बिना स्वस्ति का सौन्दय सूय नहीं प्राप्त हो सकता है।

जो जीवात्मा इस अर की प्राप्ति क लिए (अरगमाय) प्रयत्नशील है (८ ४६ १७) वह अय कहलाता है और उसके समस्त गुण इसकी पुष्टि या सम्पत्ति है। जो अय अर का प्राप्त कर लेता है वह आय है और वदिक दशन और जीवन का लक्ष्य आय बनना आय नामक सौन्दय ज्योति को प्राप्त करना ही है—विश्व नामक जीव को आय बनाना ही है (कृण्वन्तो विश्वमायम्)



१

सौन्दर्यानुभूति

साधारणतया जिस वस्तु से मानव के मन म कोई सुखद अनुभूति होती है उसको वह सुदर कहता है। प्रात कालीन उषा की लालिमा निरभ्र आकाश की नीलिमा, शरत पूर्णिमा की ज्योत्स्ना रग विरगा इद्रधनुष, रक्ताभ कमल, पीला सरसो पुष्प आदि सभी वस्तुएं मानव के लिए सुदर हैं, क्योंकि व उसके मन म एक सुखद अनुभूति उत्पन्न करती हैं। इसी सुखद अनुभूति को सौन्दर्यानुभूति कहा जाता है। यह अनुभूति यद्यपि हृदय म तत्वत एकरूप होती है परन्तु माध्यम भेद स यह कई प्रकार की मानी जा सकती है।

चक्षु-ग्राह्य सौदय

जिस अनुभूति की प्राप्ति चक्षु के माध्यम से हृदय म होती है उसे हम चाक्षुष सौदय कह सकते हैं। दो उदाहरणों द्वारा यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी —

१ सुदर शिशु—गाँव की एक धूल भरी गली म एक नन्हा-सा शिशु खेल रहा था—सुदर सलोना परन्तु धूल से सना हुआ।

राह चलत हुए दो पथिकों मे से एक के पर उसे दखत ही रुक गए—'आहा! कसा सुदर बालक है' वह बोल उठा। 'हाँ' दूसरे ने चलते-चलते कहा, परन्तु वह ठहरा नहीं। पहला पथिक उसे निर्निमेष देखता रहा। निहारते-निहारते वह शिशु क पास गया। उसन बच्चे को अपनी ओर आकृष्ट करने के लिए मिठाई दी और उसे गोद म उठा लिया।

पास ही एक अय बालक भी खेल रहा था, उसन भी अपनी छोटी-छोटी सी 'बाह' उठाई और पथिक की ओर चाह भरी दृष्टि स देखा, किन्तु पथिक

ने तनिक भी परवाह न की—और उसी सुंदर बालक को चूमता रहा—प्यार करता रहा, आनन्द विभोर होकर।

पथिक की इस सौन्दर्यानुभूति का साधारण सा विश्लेषण करने पर भी निम्न लिखित बातें सामने आती हैं—

१ सुंदर शिशु ने पथिक को आकर्षित किया और असुंदर प्रयत्न करके भी उसे आकृष्ट न कर सका—सुंदर प्रमेय (विषय) म आकर्षकत्व होता है।

२ दूसरा पथिक शिशु के सौंदय को स्वीकार करके भी उतना आकर्षित नही हुआ—क्योंकि सौन्दर्यानुभूति केवल प्रमेय (सुंदर शिशु) के आकर्षकत्व पर ही नहीं प्रमाता (पथिक) के आकर्षणीयत्व पर भी निभर है।

३ यह आकर्षण तभी सम्भव हुआ जब पथिक ने शिशु को देखा उसकी जीवित और जाग्रत इन्द्रियों से विषय का भी सन्निकर्ष हुआ—सचेतन इन्द्रिय सन्निकर्ष होने पर ही आकर्षण सम्भव होता है।

४ सुंदर शिशु को देखते ही पथिक के मन मे एक अनुभूति हुई जिससे प्रेरित होकर वह बोला—'आहा! कितना सुंदर है यह शिशु!'—सुंदर को देखकर एक सुखद अनुभूति होती है।

५ पथिक केवल इस सुखद अनुभूति से ही सन्तुष्ट नही होता, वह निहारने, चूमने पुचकारने आदि की क्रियाओं के लिए विवश हो जाता है और अपने हृदय की गुदगुदी दूसरे से भी व्यक्त करता है—अनुभूति की अभिव्यक्ति भी आवश्यक है।

६ शिशु को वह गोद लेने के लिए विकल हो गया—सुंदर विषय को अपनाने की चाह होती है।

अत पथिक की सौन्दर्यानुभूति म मूलत दो पक्ष हैं—(१) प्रमेय (विषय) का आकर्षकत्व तथा (२) प्रमाता का आकर्षणीयत्व। इन दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध निम्नलिखित अवस्थाओं म प्रकट होता है—

१ सचेतन इन्द्रिय-सन्निकर्ष,
२ अनुभूति,
३ अभिव्यक्ति
४ अपनाने की चाह।

२ सुंदर-पुष्प—शिशु भी सुंदर है और फूल भी परन्तु फूल तथा शिशु म थोड़ा-सा भेद प्रतीत होता है—शिशु अपने प्रमाता (पथिक) को उत्तर देता है अपने छोटे-से हाथ उठा सकता है हस सकता है रूठ सकता है, भाग सकता है परन्तु पुष्प के व्यापार म ऐसी विविधता, ऐसी सचेतनता तथा ऐसी भाव-

प्रवणता कहाँ ? एक हरे भरे उद्यान मे किसी सुदर पुष्प को देखकर मानव आनन्द विभोर हो गया और उस समय उसके मन मे जो सुखद अनुभूति हुई, उसकी अभिव्यक्ति कविता मे परिणत हो गई—

उफनाते सुषमा के बुदबुद ! अंग अंग मुसकाते ।
मीठे-मीठे मादकतामय निस्वन गान सुनाते ॥
सरस हृदय के चचल चित मे चुम्बन-चाह जगाते ।
किसे चूमने को हँस हँसकर कोमल ओठ उठाते ॥
किसी ऐन्द्रजालिक ने क्या यह रची तुम्हारी काया ?
अहो ! कौन आकर्षण या सम्मोह ? कौन-सी माया ?
कसी चाह विचित्र अरे ! यह तुमको अपनाने की ।
निज अन्तस मे रखने, तुममे घुल मिल रम जाने की ॥
है चुम्बन की चाह ? नहीं उससे नित नव बढ जाती ।
आलिङ्गन ? ओ आलिङ्गन से भी तो तप्ति नहीं पाती ॥
निदय भौतिक मिलन, तुम्हारी रूपश्री कुम्हलाती ।
रहती चाह अतप्त विकलता मेरी बढ़-बढ जाती ॥
बोलो मेरे फूल ! कहो मेरी वाणी मे बोलो ।
तुममे कसे मिलू, समाऊँ भेद मनोरम खोलो ।
'तुम मेरे हो मैं कहता हूँ तुम भी कह दो 'तुम मेरे' ।
एक अहम् हो हँसे द्रुत जब विहँसे उषा सवेरे ॥

यहाँ कवि एक पुष्प को देखता है तो उसे ऐसा लगता है कि विश्व के सारे सौदय मे उफान आया है, और उसी म उठते हुए बुदबुदो म से एक उसके सामने है जिसे वह फूल कहता है और जिसके अग अग उसे मुस्काते हुए दिखाई पडते हैं। इसी फूल (विभाव) स नेत्रेन्द्रिय-सन्निकष होने पर भावुक के मन म एक अनुभूति का 'विभावन' होने लगता है। प्रथम तो यह एक चाक्षुष सौदय की अनुभूति होती है जिसके फलस्वरूप उसको फूल के अग अग में मुस्कान प्रतीत होती है , परन्तु शीघ्र ही यह अनुभूति एक अतीन्द्रिय या अद्ध अतीन्द्रिय अनुभूति मे परिणत हो जाती है और कवि को एक मदिर, मधुर एव निस्वन गान-सा सुन पडता है। इस सारी अनुभूति की अभिव्यक्ति विभाव (फूल) को लक्ष्य करके, एक विचित्र चाह के रूप म होती है। यह चाह चुम्बन, आलिङ्गन आदि भौतिक सम्पर्कों से तृप्त होने वाली नहीं है यह सम्भवत विभाव को अपनाने की चाह है, उसम घुल मिल कर रमने की, अथवा उसके साथ एक अहम्' होने की चाह है।

श्रोत्र-ग्राह्य सौन्दर्य

सपेरा जब अपनी बीन बजाता है तो सर्प भी अपनी भयङ्करता को भूलकर मस्ती में झूमने लगता है तथा सुध-बुध खोकर सपेरे के हाथों बन्दी होता है। बालकृष्ण की वंशी को सुनकर गोपियों और गायों के ही नहीं अपितु तीनों लोकों के मुग्ध होने की बात कृष्ण भक्त कवि कहते आये हैं। व्याध के संगीत से मुग्ध होकर हरिणों द्वारा प्राण दिये जाने की बात कवि-परम्परा का सर्वमान्य सत्य हो चुका है। पपीहे की पी पी, कोकिल की तान तथा बुलबुल के कलरव पर विमुग्ध होने वाले अनेक कवि मिल जायेंगे। घनध्वनि पर मस्त होने वालों की भी कमी नहीं। वीणा, सितार, सारंगी, सन्तूर, शहनाई, मृदंग आदि वाद्ययन्त्रों की ध्वनियों में भी मन को मोहने और मनुष्य को बेखबर करने की शक्ति है। इस बात को प्रायः सब मान लेंगे। यहाँ पर एक घटना का उल्लेख करना अनुचित न होगा—

ज्येष्ठ मास की दुपहरिया का समय और राजस्थान में कोटा की गर्मी, फिर भी सहसा एक अत्यन्त कर्णप्रिय ध्वनि को सुनकर सारा मोहल्ला सड़क पर उमड़ पड़ा। जिधर से ध्वनि आ रही थी उधर ही सब दौड़े जा रहे थे, उनमें से अनेक नंगे पाँव थे—बच्चे ही नहीं प्रौढ़ स्त्री पुरुष भी। देखा तो ज्ञात हुआ कि पेड़ की छाया के नीचे कोई कलियुगी बालकृष्ण खड़ा हुआ कुछ मुँह से बजा रहा है। जैसे-जैसे भीड़ बढ़ती गई वैसे वैसे उस लड़के का उत्साह भी बढ़ता गया और वह अपनी कला के सुन्दरतम रूप को रखने का प्रयत्न करता गया। जो लोग पास खड़े थे वे मन्त्र मुग्ध से खड़े थे, जो दूर थे वे निकट पहुँचने का प्रयास कर रहे थे। अन्त में बाजा बजना बन्द हुआ, और लोग पूछने लगे 'यह कौन-सा बाजा है?' उत्तर मिला 'मुरचंग'। इसके बाद प्रश्नों की झड़ी लग गई—"मुरचंग क्या होता है? कहाँ मिलता है? क्या दाम है? बजाना सिखाओगे क्या?" लड़के ने क्या उत्तर दिया यह निष्प्रयोजन है, परन्तु कान के माध्यम से प्राप्त होने वाले सौन्दर्य ने सब लोगों का मन इतना लुभाया कि [illegible] लड़का उस स्थान से चल दिया तो भी उसके बहुत से प्रशंसक पीछे पीछे चले जा रहे थे। तब समझ में आया कि श्रोत्र सौन्दर्य में जो जादू है वह चाक्षुष सौन्दर्य से किसी प्रकार कम नहीं।

रसना ग्राह्य सौन्दर्य

गन्ध और स्पर्श के रूप में हम सुखद अनुभूतियां होती हैं जो उक्त चक्षु ग्राह्य अथवा श्रोत्र ग्राह्य सौन्दर्यानुभूति से किसी प्रकार कम नहीं। जिस भोजन अथवा मिष्ठान्न को देखकर या यादकर के मुंह में पानी आ आता हो उसे कौन सुन्दर न कहेगा? नासिका के माध्यम से प्राप्त गन्ध के सौन्दर्य का प्रमाण कादम्बरी के महाश्वेता-वृत्तान्त में मिलता है जहाँ पारिजात मञ्जरी की गन्ध का प्रभाव बतलाया गया है। साधारणतया भी रसोई अथवा बाग से आने वाली गन्ध को गहरी साँस के द्वारा सूंघने वाले तथा 'आह, कैसी सुन्दर गन्ध है!' कहने वाले प्रायः मिल जाते हैं। त्वचा की स्पर्शेन्द्रिय के माध्यम से प्राप्त सौन्दर्य के प्रमाण परिरम्भण, चुम्बन, आलिङ्गन आदि में देखे जा सकते हैं। जिस स्वाद, गन्ध तथा स्पर्श को हम सुन्दर या सुखद मानते हैं, उसे पाने और अपनाने के लिये हम उसी प्रकार लालायित हो जाते हैं जिस प्रकार सुन्दर रूप अथवा सुन्दर ध्वनि को।

काव्य-सौन्दर्य

चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा के माध्यम से जिस सौन्दर्य की अनुभूति होती है उसकी तुलना हम उस सौन्दर्यानुभूति से भी कर सकते हैं जो हम काव्य के माध्यम से प्राप्त होती है और जिसे प्रायः रसानुभूति की संज्ञा दी जाती है। कालिदास आदि कवियों के काव्य में हमें जिस सौन्दर्य की प्रतीति होती है वह चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा से ग्राह्य सौन्दर्य तो नहीं है परन्तु तत्वतः वह उससे भिन्न भी नहीं है क्योंकि वस्तुतः विश्लेषण करने पर काव्य जिन मानस प्रत्ययों अथवा चित्रों के माध्यम से सहृदय पाठक को सौन्दर्यानुभूति प्रदान करता है वे चक्षु, श्रोत्र, जिह्वा, नासिका तथा त्वचा द्वारा प्राप्त रूप, शब्द, रस, गन्ध एवं स्पर्श के मानस प्रत्यय अथवा चित्र ही तो होते हैं। अस्तु काव्य का सौन्दर्य मानस ग्राह्य है।

मानस-ग्राह्य सौन्दर्य

काव्य का सौन्दर्य ही क्यों, जिस सौन्दर्य को ऊपर हमने चक्षु आदि इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य कहा वह भी तो अन्ततोगत्वा मानस ग्राह्य ही होता है। सुन्दर शिशु अथवा पुष्प के साथ चक्षु इन्द्रिय का सन्निकर्ष[1] होने पर भी तो सौन्दर्य की अनुभूति मानस में ही होती है जिसके फलस्वरूप विभाव (शिशु या

[1] देखिये—'चक्षुर्ग्राह्य सौन्दर्य,' पृष्ठ ३।

पुष्प) को अपनाने की चाह उत्पन्न होती है। अतएव सौन्दर्यानुभूति में विभाव की अपेक्षा मानसिक चाह को प्राय अधिक महत्त्वपूर्ण समझा गया है—

मीठी-मीठी वस्तु नहिं, मीठी जाको चाह।
अमली मिश्री छाँड़ि के आफू खात सराह॥

कुरूप लैला मजनूं के लिए कड़वी अफीम अफीमची के लिए तथा चपटी नाक चीनी के लिए इसी कारण सुन्दर प्रतीत होती है। अत प्रश्न होता है कि फिर किसी वस्तु को सुन्दर क्यों कहते हैं।

सौन्दर्य और अर्थ विज्ञान

यह प्रश्न यथार्थत अर्थ विज्ञान का है। इसके उत्तर के लिए हम सौन्दर्य द्रष्टा के उस समय के मानस का विश्लेषण करना पड़ेगा जिस समय वह किसी सुन्दर रूप सुन्दर संगीत आदि से प्रभावित हुआ हो। जब आप किसी सुन्दर संगीत से प्रभावित होकर सचमुच झूमने लगें या जब आप किसी सुन्दर दृश्य को देखकर उछल पड़ें उस समय यदि आप अपनी आँखों और कानों को बन्द करके एकाग्रचित्त होकर बैठ जायं तो आपको एक ध्वनि सुनाई पड़ेगी जिसको सु या सुम् हु या हुम् तथा उ या उम् द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। इसीलिये जो वस्तुएँ हमें प्रिय होती हैं उनके नाम के पहले हम 'सु' लगा देते हैं। सुम सोम और सोमल[1] जैसे बहुत से मनोनुकूल पदार्थों के संस्कृत नाम सुम से निकले हुए हैं। सूफी लोग ध्यानावस्था में सुनी जाने वाली एक ध्वनि को हु हु की आवाज कहते हैं, फारसी में 'हुम' से निकले हुए हुमा होम आदि शब्द अत्यन्त प्रिय पदार्थों के नाम हैं। संस्कृत में उ शिव और ब्रह्मा का नाम होने के अतिरिक्त चन्द्रमण्डल का भी द्योतक है तथा उम् अर्थ ध्वनि के साथ शान्ति तथा नम्रता का सूचक है और उम् से निष्पन्न उमा[3] उम ओम् ओमन् आदि शब्द आनन्दकारी पदार्थों के नाम हैं। आध्यात्मिक पक्ष में सुम् हुम और उम् से निकले हुए शब्द 'सु' हु तथा उ से निष्पन्न शब्दों की अपेक्षा

---

१ द्र० क० अशाम्नन सुमन्तनि, शुभान्न।

२ द्र० क० सुन (चन्द्र कपूर, आकाश), सुम (पुष्प) सुम्न (हर्ष सुख, प्रसाद, पुण्य) सोन (चन्द्र अमृत, किरण कपूर) सोर्न (आकाश, स्वर्ग) सोमल (कोमल सुन्दर पुष्प) आदि।

३ उमा शब्द के अर्थ प्रकाश तेज, ज्योति शान्ति, यश आदि हैं। यह जगज्जननी पत्नी का भी नाम है तथा उपनिषदों में उमा हैमवती एक दिव्य स्त्री भी है जो देवों के सामने प्रकट होती है।

अधिक प्रचलित हुए मालूम पडते हैं , अत सस्कृत और फारसी म क्रमश सोम तथा होम तो परम आन ददायक दिव्य पेय के ही नाम हैं और सस्कृत मे 'ओम' तो आन दस्वरुप परमात्मा का ही द्योतक है। सस्कृत ओमन् ओमनवत ओमात्रा तथा ओम्या शब्द भी वरदान, दया, प्रस नता आदि सुखद वस्तुओ अथवा स्थितियो से ही सम्ब ध रखते हैं।

उक्त विश्लेपण से स्पष्ट है कि सस्कृत भापा परिवार के बोलने वालो ने सुखद विभागों के सम्पक म आकर अपने मन मे जिस अनुभूति को पाया उसके लिए उन्होने सुम्, उम् अथवा हुम् नाम दिया, जो सम्भवत अपने सक्षिप्त रूप 'सु', 'हु' तथा 'उ के रूप म भी माय भापाओ मे बने रहे परन्तु सस्कृत म उक्त आन दानुभूति के लिए सुम् श द का ही प्रयोग अधिक व्यापक रहा जिसके फलस्वरूप जिस वस्तु के साथ इ द्रिय सन्निकर्प होने पर उक्त सुम् नामक आन दानुभूति होती थी उसको सु दर कहा जाता था (सुम देने वाली सामथ्य से युक्त)। अन अथ विज्ञान के आधार पर यह कल्पना करना अनुचित न होगा कि सस्कृत भापा भापियो के पूवजो ने उन्हीं पदार्थों के लिए सु दर श द को प्रयुक्त करना आरम्भ किया होगा जिनक सम्पक से उनके हृदय म सुम्' नामक अनुभूति उत्प न हुई होगी। जसा आगे बतलाया गया है यह 'सुम सभवत ऋग्वेद के सु+क स मिलकर बना है।



२

सौन्दर्य का निरूपण

पहले अध्याय में किए गए विवेचन से स्पष्ट है कि जो सुख नामक अनुभूति (सौन्दर्यानुभूति) प्रमाता या भावुक के मन में होती है वह किसी न किसी बाह्य अथवा आन्तरिक विभाव के विभावन का परिणाम है। परन्तु इस पर भी स्वभावत अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। विभावन का क्या स्वरूप है? उसका कारण क्या है? चक्षु ग्राह्य सौन्दर्य के प्रसंग में उद्धृत कविता[1] में कवि ने जिसे आकर्षण सम्मोह या माया कहा है वह वास्तव में क्या और कैसा है? उसका आधार क्या है? उसका प्रयोजन क्या है? वह विभावन का कारण क्यों और कैसे बनता है? उस विभावन द्वारा विभावित अनुभूति का क्या स्वरूप है और वह कहाँ से और क्यों आती है? इस अनुभूति की अभिव्यक्ति विभाव को लक्ष्य करके क्यों होती है और उसमें विभाव का क्या हित अथवा अहित है? समाज को लक्ष्य करके भी अनुभूति की अभिव्यक्ति क्यों होती है? इस प्रकार की अनुभूतियों या अभिव्यक्तियों का कौन सा सामाजिक हेतु या उपयोग है? क्या अनुभूति और अभिव्यक्ति स्वाभाविक है? क्या अनुभूति एवं अभिव्यक्ति के समान ही विभावन भी एक सचेतन अथवा सप्राण व्यापार है? विभाव और प्रमाता में ऐसा कौन-सा अदृश्य तत्त्व है जो इस सम्पूर्ण व्यापार को जन्म देता है? कौन-सा ऐसा तत्त्व है जो इस व्यापार में बाधक होता है?

इसी प्रकार के अनेक प्रश्नों की शृंखला सत्यान्वेषी मानव मन में उत्पन्न होना स्वाभाविक है—एक ऐसी प्रश्न शृंखला जो सौन्दर्य-तत्त्व को खोजते-खोजते

---

१ देखिए प्र० अ०, पृष्ठ ३।

विभाव एवं प्रमाता के मूल तत्त्व तक पहुँचने की महत्त्वाकांक्षा रखती हुई-सी प्रतीत होती है। अतः ज्ञान और विज्ञान की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शोध एवं साधना है। इसी साधना के पथ पर ले जाने का प्रयत्न करना ही सौन्दर्यशास्त्र का लक्ष्य है, मानव के इस अध्यवसाय में सहायता पहुँचाना ही इसका प्रमुख प्रयत्न है।

सौन्दर्यशास्त्रियों का दृष्टिकोण

सौन्दर्यशास्त्रियों ने प्रायः दो दृष्टिकोणों से सौन्दर्य तत्त्व पर विचार किया है—एक तो विभाव की दृष्टि से दूसरे प्रमाता (व्यक्ति) की दृष्टि से। प्रायः देखने में यह आता है कि विभाव पक्ष से विचार प्रारम्भ करने वाले भौतिक दृष्टिकोण अपना लेते हैं और प्रमाता पक्ष को लेकर चलने वाले आध्यात्मिक दृष्टिकोण पर जा पहुँचते हैं। अतएव अभी तक जितने भी सौन्दर्यशास्त्री हुए हैं—अथवा अभी तक जिन लोगों ने सौन्दर्यशास्त्र पर लेखनी उठाई है उनको दो वर्गों में बाँटा जा सकता है—

१ भौतिकवादी २ अध्यात्मवादी

१ भौतिकवादी दृष्टिकोण—भौतिक दृष्टि (जो यथार्थतः व्यावहारिक दृष्टि है) से सौन्दर्य का आधार 'विभाव' है अतः उसी के अंगों में उसकी खोज की जाती है। श्रीमद्रूपगोस्वामी ने इसी विचार से कहा—

'भवेत् सौन्दर्यमङ्गानां सन्निवेशो यथोचितम्।' इसी यथोचित सन्निवेश को क्षेमेन्द्र ने अपनी औचित्य विचार चर्चा में उचित-स्थान विन्यास कहा है और सम्भवतः इस दृष्टि[1] से औचित्य ही सौन्दर्य माना जा सकता है। यदि ध्यान से देखा जाय तो अरस्तू द्वारा प्रतिपादित सौन्दर्य के अंग—सम्मात्रा (Symmetry), व्यवस्थित क्रम (Orderly arrangement) तथा निश्चित आकार (Certain magnitude) इसी औचित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं। हागार्थ ने जब रेखा, रूप रंग एवं क्रम के सौन्दर्य मीमांसा की भित्ति, वस्तु की क्षमता (Fitness), विचित्रता (Variety), सम्मात्रा (Symmetry), स्पष्टता (Distinctiveness), जटिलता (Intricacy), और विशालता (Magnitude) पर खड़ी की तो भी वह औचित्यवाद की सीमा को न लाँघ सका। यही बात वस्तु के विभिन्न अंगों में स्थित पारस्परिक सम्बन्ध में सौन्दर्य देखने वाले[2] दाइदेरो और उस

१ तु० क०, औचित्य विचार चर्चा श्लो० ३, ६, १० , १५, ना० १४, ६८ , ख० ३, ३३, आदि।

2 Beauty consists in the perceptions of relations—Diderot

वक्र के विषय म कही जा सकती है जो आकार-सूक्ष्मता (Smallness of size), मसृणता (Smoothness) क्रमिक परिवर्तन (Gradual variation), कोमलता (Delicacy) वर्ण प्रदीप्ति (Brightness of colours) तथा शुद्धता (Purity) को सौन्दर्य के उपादान स्थिर करता है। रिचार्ड प्राइस के एकरूपता (Uniformity) वैचित्र्य (Variety) व्यवस्था (Order) तथा सम्मात्रा (Symmetry) एव कूमाज के वैचित्र्य एकत्व एकरूपता व्यवस्था तथा अनुपात म सौन्दर्य के उपकरण ढूढने के विषय म भी यही मत लागू होता है। वस्तुत बात यह है कि वे सभी किन्हीं विभाव या वस्तु के आकार प्रकार, अग प्रत्यग तथा रूपरग आदि म ही सौन्दर्य की खोज करते रहे और घूम फिर कर किन्ही न किन्ही औचित्यों को ही सौन्दर्य का कारण मानने लगे।

कुछ ऐसे भी विद्वान हैं जो विभाव (वस्तु) के आकार प्रकार आदि तक ही सीमित न रहकर कुछ आगे बढ़े हैं परन्तु फिर भी अपने दृष्टिकोण को भौतिकवादी बनाये रखा है। अतएव डा० जेराड जहाँ विभाव की दृष्टि से आकृति-सौन्दर्य (Beauty of Figure) तथा वर्ण सौन्दर्य (Beauty of Colour) को मानता है वहाँ वह प्रमाता (अनुभू) को ध्यान म रखकर उपयोग-सौन्दर्य (Beauty of Utility) भी मानता है। इसी प्रकार डा० सली वस्तुगत सौन्दर्य (Relational or formal) के अतिरिक्त प्रमाता के इन्द्रियजन्य (Sensuous) तथा साहचर्योद्भूत (Associative) मानस सौन्दर्य (Beauty of meaning or expression) को भी मानता है। एलीसन जफ्री तथा बेन आदि साहचर्य नियम (Law of Association) को मानने वाले विद्वान् यद्यपि विभाव (वस्तु) को सौन्दर्य मीमासा से बहिष्कृत करते हुए से प्रतीत होते हैं परन्तु यथार्थ म उनके मत म भी प्रधान स्थान विभाव को ही प्राप्त है क्योंकि उनके मतानुसार जो सुखद अनुभूतियाँ साहचर्य नियम द्वारा जाग्रत होकर सौन्दर्य का कारण बनती हैं वे वस्तुत और अनिवार्यत विभाव (वस्तु) का लक्ष्य करके ही उपजती और सञ्चित होती है। मेरवर्णी महोदय (य)द्यपि विभाव को छोड़ने का प्रयत्न करते हैं और सौन्दर्य का कारण विभिन्न (जा)तियो एव विभिन्न प्राणिवर्गों के परस्पर भिन्न सौन्दर्य आदर्शों म देखते हैं, (पर)न्तु उनका भी यह प्रयत्न सफल नही होता क्योंकि अन्ततोगत्वा ये आदर्श भी विभिन्न विभावो से ही चिपके हुए हैं। अत प्रथा और आदत को ही सौन्दर्य (मा)नने वाले लार्ड केम विलियम शेन्स्टन तथा अब्राह्म टकर की भाँति, वर्णी ... भी सौन्दर्य का मानव के भौतिक व्यवहार स ही सम्बद्ध करते हैं। ...ही सौन्दर्यशास्त्रियो से मिलते-जुलते वे विद्वान् हैं जो अपनी मीमासा मे

विभाव विशेष को महत्त्व न देकर विभाव सामान्य अथवा प्रकृति को देते हैं। इस वर्ग में सर्वप्रथम रेनाल्डस का नाम लिया जा सकता है। उनके मतानुसार प्रत्येक प्राणी और पौधे को प्रकृति उसके पूर्व निर्णीत रूप की ओर लिये जा रही है, और यदि हम उनके रूपों में सौन्दर्य देखते हैं, तो केवल इसलिये कि हम ऐसा करते आये हैं, हमारी यह आदत उसी प्रकार की है जिस प्रकार 'हाँ' से स्वीकृति और 'ना' से निषेध का ज्ञान होना। डार्विन के मतानुसार प्राणियों या पौधों के रूपरंग में पाये जाने वाले सौन्दर्य का कारण है प्रकृति निर्वाचन और उसका उपयोग है वंश वृद्धि के लिये आवश्यक लिङ्ग निर्वाचन। मनुष्य आदिम काल से कन्द, मूल फल खाते खाते पेड़ पौधों के रूप रंग में सौन्दर्य देखने लगा, इसी सौन्दर्य से आकृष्ट होकर वह अथवा पशु पक्षी आदि अन्य प्राणी उनके (पेड़ पौधों के) बीजों को स्थान परिवर्तन आदि द्वारा उनकी वंश-वृद्धि में सहायक होते हैं। फूलों का सौन्दर्य मानो उन मधुमक्खियों तितलियों आदि को रिझाने के लिए है जो अनजाने ही अपनी सौन्दर्य लिप्सा में पड़कर एक फूल का परागकेसर दूसरे के गर्भकेसर में पहुँचा देते हैं। तितली का रंग फूलों जैसा रंग बिरंगा इसीलिए है कि वह फूलों में छिपकर आत्म रक्षा कर सके।

सौन्दर्य मीमांसा में अन्य प्रकारों से भी प्रकृति का उपयोग किया गया है जिनमें ह्यूम और हर्बर्ट स्पेन्सर के प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय हैं। ह्यूम के मतानुसार प्रकृति ने विषयों (विभावों) में कुछ ऐसे गुण निहित कर दिए हैं जो हमारे मन में सौन्दर्य भावना को जागृत करते हैं[1] परन्तु सौन्दर्य स्वयं कोई वस्तुओं का गुण नहीं अपितु सौन्दर्यानुभूति करने वाले मन में विद्यमान है (Beauty is no quality in things themselves It exists only in the mind which contemplates them)। हर्बर्ट स्पेन्सर एक मूल सौन्दर्य भावना की कल्पना करता है, जो न केवल व्यक्ति के अपितु उसकी जाति के जीवन में क्रमशः विकसित और संस्कार रूप में संचित होती रही है। इसी के कारण हमें सौन्दर्यज आनन्द प्राप्त होता है। स्पेन्सर की मूल सौन्दर्य भावना की तुलना

1 'It must be allowed that there are certain qualities in objects which are fitted by nature to produce these particular feelings'

'We admire beauty for no other reason than that we are used to it

रस्किन की प्रमेयात्मक (Theoretic) वृत्ति से की जा सकती है, परन्तु रस्किन स्पेंसर के विपरीत उसे प्राकृतिक विकास से उत्पन्न नहीं मानता, और उसके मत में एक सौन्दर्य की कल्पना निहित है जिसके अनुसार वह सौन्दर्य को वस्तुगत (Typical) तथा मौलिक (Vital) दो प्रकार का मानता है।

२ अध्यात्मवादी दृष्टिकोण—जैसा ऊपर देख चुके हैं ह्यूम ने ही सौन्दर्य को प्रमाता के मन में स्थिर मानकर सौन्दर्य मीमांसा में प्रमाता को प्रमुख स्थान दे दिया परन्तु फिर भी वह वस्तु स्थित गुणों का अत्यधिक आश्रय लेने से भौतिकवादी ही बना रहा। इसी प्रकार, रस्किन ने वस्तु की अनन्तता (Infinity) एकता (Unity) स्थिरता (Repose) सम्मात्रा (Symmetry) शुद्धता एवं संयति (Moderation) में सौन्दर्य देखते-देखते अपनी ईश्वरवादी विचारधारा के कारण बलात् वस्तु के इन गुणों का सम्बन्ध ईश्वर से जोड़ा है। परन्तु इन दो भौतिकवादी सौन्दर्यशास्त्रियों की भाँति ही अधिकांश अध्यात्मवादियों ने भी प्रमाता अथवा ईश्वर को महत्त्व देकर सौन्दर्य मीमांसा की है जिनमें कुछ तो अपनी धार्मिक श्रद्धा के वशीभूत होकर ही ईश्वर की सर्वगुणसम्पन्नता में सौन्दर्य को भी स्थान दे देते हैं। अतः सण्ट आगस्टाइन के अनुसार असीम शिवत्व सत्यत्व एवं सौन्दर्य ईश्वर के गुण हैं और ईश्वर ही वस्तुओं को ये गुण प्रदान करता है। लेवीक (Leveque) सौन्दर्य को ईश्वर अथवा मन की अभिव्यक्ति मानता है जो वस्तुओं के एकत्व वैचित्र्य वर्ण एवं कोमलत्व आदि गुणों द्वारा प्रकट होती है।

कुछ ऐसे सौन्दर्यशास्त्री हैं जिन्होंने प्रमाता और प्रमेय दोनों और वस्तु को एक में लाने का प्रयत्न किया है। थियोडोर विशर के अनुसार जबकि कला अथवा सुन्दर विषय में प्रमाता ही अपने को प्रमेय रूप में देखता है शैलिंग (Schelling) प्रमाता (Subject) एवं प्रमेय (Object) आत्मा एवं विश्व की एकता में विश्वास करता है। उसके अनुसार अहं और इदं एवं आत्यंतिक प्रज्ञा द्वारा अभिन्न रूप से एकत्व में सम्बद्ध हैं परन्तु प्रमाता एवं विषय की यह एकता इच्छा एवं ज्ञान के क्षेत्र में तो अस्पष्ट या धुंधली सी रहती है और उसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति कला में होती है इसी प्रकार सान्त में अनन्त की अभिव्यक्ति को सौन्दर्य कहते हैं। शापेनहावर प्रमाता (Subject) एवं विषय (Object) को मूल संकल्प (Will) का परिणाम मात्र मानता है और सौन्दर्य को भी इसी संकल्प की किसी शक्ति का व्यक्तीकरण मानता है। हेगेल भी इसी प्रकार दोनों को एक ही चरमतत्त्व (Absolute) का परिणाम मानता है

ग्रौर सौंदर्य¹ को इन्द्रिय ग्राह्य ग्रध्यात्म-तत्त्व समझता है, परन्तु सौंदय की उपस्थिति केवल प्रकृति एव कला व इन्द्रिय-ग्राह्य रूप मे मानने से, वह ग्रपनी सौंदय मीमासा का न्यूनाधिक भौतिक क्षेत्र मे ही सीमित कर देता है।

इस प्रकार का विचारधारा मे सर्वोच्च स्थान प्लेटो एव प्लोटीनस का है। प्लेटो भारत के तात्त्विक दर्शन की भाँति दो प्रकार की सृष्टि मानता है, जिसको वह शुद्ध ग्रौर ग्रशुद्ध सृष्टि न कहकर चेतन (Ideal) एव प्रतीयमान दुनिया (Phenomenal world) कहता है पहली म दूसरे के सभी रूप ग्रौर तत्त्व बीज रूप में विद्यमान हैं। ग्रत उसके ग्रनुसार "प्रतीयमान जगत् के सौन्दय का मूल रूप भी चेतन (Ideal) जगत म है, जो ग्रद्वत तथा ग्रात्यतिक सौंदय है जिसमे न ह्रास है न वृद्धि, न उदय है न ग्रन्त, ग्रपितु जो सदा ही एकरूप रहता है।' प्रत्यक सुन्दर वस्तु इसी ग्रात्यतिक (Absolute) सौंदय से ही सुदर है। इसीलिए प्लेटो का कथन है कि "जो भी सौन्दय के तत्त्व की यथोचित खोज करन म दत्तचित्त होगा उसे विभिन्न सुन्दर रूप देखत ही यह पता लगेगा कि एक रूप की सुन्दरता दूसरे की सुन्दरता स भिन्न नहीं है ग्रौर फिर भी यदि वह साधारणतया विभिन्न रूपो मे ही सौन्दय ढूँढ़ता रहा तो उसस बडा मूल ग्रौर कौन होगा, क्योंकि वह यह भी न जान सका कि सब रूपो म सौंदय एक ही है।' प्लाटीनस के ग्रनुसार विश्व का मूल तत्त्व शिवत्वमय एक है जिसम प्रज्ञा ग्रथवा बुद्धि (Objective-reason) का उदय होता है यही ग्रात्यन्तिक सौंदय है जो भौतिक पदार्थों को निज गति द्वारा ग्राकृति प्रदान करके सौंदय देता है। प्लेटो ग्रौर प्लोटीनस के ग्रात्यन्तिक (Absolute) सौन्दय की तुलना लाड शैफ्टसबरी के प्रथम सौंदय (First beauty) स भी की जा सकती है जो स्वय ईश्वर है ग्रौर जिसके प्रतिबिम्ब स्वरूप जगत् के सारे सौन्दय वतमान हैं। इमसन का ग्रात्यतिक सौंदय भी बहुत कुछ ऐसा ही है ग्रौर उसके सापेक्षिक सौंदय के ग्रन्तर्गत प्रतीयमान या दृश्य जगत का सारा सौन्दय रखा जा सकता है।

कुछ ऐसे भी सौंदयशास्त्री हुए हैं जो मानव-व्यवहार के विश्लेषण द्वारा सौंदय मीमासा म प्रवृत्त हुए जान पडते हैं। इस दृष्टि स शिलर के ग्रनुसार मानव-व्यवहार के तीन क्षेत्र हैं—(१) जड जगत जहा ग्रात्मा भौतिक बधनो स जकडा हुग्रा कम म प्रवृत्त रहता है (२) नीति-जगत, जहाँ

1 The beautiful is the spiritual making itself known sensuously

आत्मा नतिक बधनो म बधा रहता है और उसका आचरण पूववत् ही सीमित और अवरुद्ध सा रहता है। (३) इन दोनों क्षेत्रो के बीच क्रीडा जगत् है जिसम कोई बधन नहीं और जहाँ मानवात्मा स्वतन्त्र और स्वच्छन्द होकर कम करता है। क्रीडा जगत् म जड जगत् एव नीति-जगत् का समन्वय है, यही सौन्दय का जगत् है। यही आनन्द का क्षेत्र है। यही आत्मा सुख और सौन्दय के साथ विहार कर सकता है और शिलर के मत म यह सौन्दय क्रीडा ही मनुष्य का परमकतव्य एव वास्तविक मनुष्यत्व है। लोत्स मानव व्यवहार को एक दूसरे ही दृष्टिकोण से देखता है और वह भी उसके तीन क्षेत्र मानता है—(१) सत् लोक (Region of facts) (२) नियम-लोक (Region of laws) तथा (३) इष्ट-बुद्धि लोक (Regions of standards of values) वास्तव म ये तीनो एक ही हैं, केवल तार्किक विवेचन के लिये पृथक पृथक मान लिये गये हैं। इनम से सत् लोक म ही ऐसी इष्ट-बुद्धियाँ (Standards of values) रहती है जो सदाचार एव सौन्दय की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट कही जा सकती हैं। नियम-लोक गौण है और सत लोक का एक साधनमात्र है। सत् लोक म ही ईश्वर ने इन तीनो का सम्मिलन और सामञ्जस्य स्थापित कर रक्खा है। इष्ट बुद्धियो साधनो एव अनिवाय नियमो के बीच जो एकता का प्रकाश या सौन्दय-सुषमा है वही सौन्दय है। लोत्से के अनुसार सौन्दय सुख (Pleasure) का ही एक विकसित रूप है और उससे भिन्न नही है दोनो म यदि कोई भेद है तो इतना ही कि सुख इन्द्रिय गोचर है तथा वह हमारी वयक्तिक आत्मा को आनन्दित करता है जबकि सौन्दय अन्त करण (Intuition) गम्य है और हमारी व्यापक (Universal) आत्मा को मुदित करता है। विक्टर कासिन मानव व्यवहार म सौन्दय्य सुख एव उपयोगिता का पृथक-पृथक अस्तित्व देखता है और अन्त म सौन्दय के तीन भेद करता है—

१ भौतिक सौन्दय—जड वस्तु या मूर्ति म यही सौन्दय है, इसका मूलाधार है भावो की अभिव्यक्ति। भौतिक सौन्दय वास्तव म स्वय कुछ नहीं, वह तो किसी आभ्यतरिक सौन्दय की भौतिक अभिव्यक्ति मात्र है।

२ नतिक सौन्दय—उक्त भौतिक सौन्दय जिस आभ्यतरिक सौन्दय की अभिव्यक्ति है वही आध्यात्मिक अथवा नतिक सौन्दय है।

३ मानसिक सौन्दय—उक्त दोनो सौन्दयों के मूल मे मानसिक सौन्दय (Ideal or mental beauty) है। उक्त दोनो सौन्दय सापेक्षिक हैं परन्तु यह शुद्ध आत्यतिक सौन्दय है। यही ईश्वर है। काउसिन की भाँति ज्वायफे की सौन्दय

मीमांसा भी मानव-व्यवहार में सौंदर्य, सुख एवं उपयोगिता की पृथक पृथक सत्ता स्वीकार करती है और सुंदर, सुखद एवं उपयोगी को भिन्न भिन्न मानती है। *सौंदर्य किसी अदृश्य शक्ति की अभिव्यक्ति है, यह शक्ति प्राकृतिक अथवा भौतिक उपकरणों द्वारा व्यक्त होती है।* यह दृश्य जगत् वसन (वस्त्र) है, जिसको वह वासी (अदृश्य सत्ता) धारण किए हुए है।

, सौन्दर्य मीमांसा की एक धारा मानसिक वृत्तियों या शक्तियों का आधार मानकर चली है। रीड के अनुसार ज्ञान शक्ति (Cognition) तथा इच्छा शक्ति (Affection) जो हमारे मन में हैं, वे वस्तुत ईश्वरीय शक्तियाँ हैं और तत्त्वत एवं मूलत सुंदर हैं। जो वस्तुएँ सुंदर कही जाती हैं, उनमें इन्हीं ईश्वरीय शक्तियों की अभिव्यक्ति है। जिस वस्तु में यह अभिव्यक्ति जितनी अधिक होती है वह उतनी ही अधिक सुंदर होती है। अत रीड के अनुसार सौंदर्य कोई वस्तुओं का गुण नहीं और न वह मानसिक वस्तु ही है। वह ईश्वरीय शक्ति है, जो अन्त करण-गम्य है। कांट मन की तीन शक्तियाँ मानता है, जिनके अनुसार दर्शन को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया गया है—

१ शुद्ध बुद्धि मीमांसा (इच्छा शक्ति सम्बन्धी),
२ व्यावहारिक बुद्धि मीमांसा (ज्ञान शक्ति सम्बन्धी)
३ रुचि मीमांसा (सुख-दुःख बोध सम्बन्धी)।

इनमें से तीसरे के अन्तर्गत सौंदर्य-मीमांसा आती है। सौंदर्य का विवेचन करते हुए, कांट ने उसके गुण, परिमाण, सम्बन्ध एवं प्रकार का वर्णन किया है। सौंदर्य से शुद्ध तथा नि स्वार्थ आनन्द की प्राप्ति होती है। सौंदर्य का आनन्द सार्वभौम होने से प्रत्येक द्रष्टा को सुंदर वस्तु से आनन्द मिलता है, परन्तु हमारा सौंदर्य-सम्बन्धी निर्णय वैयक्तिक एवं एकाकी होता है। सुंदर पदार्थ का सम्बन्ध हमारे साथ स्वार्थमय नहीं है, उसके विभिन्न अंगों में जो परस्पर सम्बन्ध है, उसका एकमात्र उद्देश्य सौंदर्य-सृजन है। सौंदर्य सबको और अवश्य ही आनन्द देता है।

सम्भावना—उक्त सारी अध्यात्मवादी मीमांसा से सौंदर्य के स्वरूप के विषय में यदि कोई महत्त्वपूर्ण बात ज्ञात होती है तो यह कि वह वस्तु का धर्म नहीं है और उसकी प्राप्ति प्रमाता के अन्तर्जगत् में ही हो सकती है। रस गंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ के "लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता" में भी यही सत्य निहित है। उनके अनुसार रमणीयता अथवा सुंदरता लोकोत्तर

आह्लाद को उत्पन्न करती है और इसी आह्लाद को उत्पन्न करने वाले ज्ञान के गोचर अथवा प्रत्यक्ष ज्ञान को सौंदय कहते हैं। दूसरे शब्दों में सौंदय एक ज्ञान विशेष का प्रत्यक्षीकरण है—उस ज्ञान का प्रत्यक्षीकरण जिसमें लोकोत्तर आह्लाद को उत्पन्न करने की क्षमता हो। पण्डितराज के इस 'लोकोत्तराह्लादजनकज्ञान' इतना अस्पष्ट एवं अनिश्चित है कि इसके अन्तर्गत जहाँ प्रथम सौंदय, आत्यन्तिक सौंदय, शुद्धज्ञान आदि की उक्त ऐसी ही अस्पष्ट एव अनिश्चित कल्पनाओं का समावेश हो सकता है, वहाँ उसमें सौंदय के 'शाश्वत'[1] एव 'चिरनवीन'[2] स्वरूप की ओर सकेत करने वाली कवि कल्पनाओं के लिये भी स्थान मिल सकता है। यद्यपि ये सभी अध्यात्मवादी कल्पनाएं सौंदय मीमांसा के क्षेत्र में सराहनीय प्रयत्न हैं, परन्तु, यह मानना पड़ेगा कि इनमें वैज्ञानिक इयत्ता एव शास्त्रीय स्पष्टता का अभाव है। इसका कारण यह है कि इनके प्रेरक दृष्टिकोण न्यूनाधिक एकांगी हैं।

दृष्टिकोण की एकाङ्गिता ही उपयुक्त भौतिकवादी मीमांसा की असफलता के लिये उत्तरदायी है। जिस प्रकार उक्त 'लोकोत्तरवादी मीमांसायें प्रमाता की ओर ही दृष्टि रखती हैं और 'विभाव' की ओर से बिलकुल मुख मोड़ लेती हैं उसी प्रकार उपयोगितावाद अथवा औचित्यवाद केवल विभाव को ही केन्द्र मान लेता है और प्रमाता को लगभग भुला ही देता है। यही बात साहचर्यवाद एव विकासवाद आदि के विषय में भी ठीक बैठती है। ये मत यदि कभी विभाव से हटकर प्रमाता की ओर जाते भी हैं तो भी उसके भौतिक रूप तक ही। भौतिक के पीछे अध्यात्म की उन्हें कभी चिन्ता नहीं होती क्योंकि उनके अनुसार उसका अस्तित्व ही नहीं।

दोनों प्रकार का एकांगीपन एक मूल तथ्य का तिरस्कार करता है। यह सर्वविदित बात है कि सौंदर्यानुभूति के व्यापार में प्रमाता एवं विभाव दोनों का कुछ न कुछ हाथ है, उक्त एकांगीपन इसको भूल जाता है और वह यह भी भूल जाता है कि मनुष्य न तो केवल तन ही है और न केवल मन ही —वह तन और मन दोनों का संघात है। यदि एक शब्द में उसे व्यक्त करना चाहें तो हम उसे तनमन अथवा और आगे जायें तो जड़ चेतन्य अथवा शरीर आत्मा कह सकते हैं। प्रमाता एवं विभाव के महत्व तथा मनुष्य के अस्तित्व को सम्यक् रूप से समझे बिना सौंदय मीमांसा सदा एकांगी और

---

1 A thing of beauty is a joy for ever

2 क्षणे क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः।

अधूरी रहेगी। अतएव यह कहना अनुचित न होगा कि आधुनिक युग विज्ञान-प्रधान होते हुए भी सौंदर्य की वैज्ञानिक अथवा शास्त्रीय मीमांसा में भ्रममय तथा असफल ही रहा है। परन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि वैदिक साहित्य में इस एकांगीपन का सर्वथा परित्याग करके सौंदर्य मीमांसा करने का प्रयत्न किया गया प्रतीत होता है।



३

वैदिक दृष्टि

सौन्य के विषय म वदिक दृष्टि का आधार अधिक स्वाभाविक लगता है। यद्यपि प्रारम्भिक वदिक साहित्य मे सुदर सौंदय आदि शब्दो का प्रयोग भी नही हुआ है परन्तु वहा आनन्द नन्द मोद आमोद मुद प्रमुद, प्रिय आदि शब्दो द्वारा जिस अनुभूति की ओर सकेत किया गया है वह वस्तुत वही आनन्दानुभूति है जिसे हम सौंदर्यानुभूति मानते आय है। अथववेद[1] के अनुसार मानव शरीर आठ चक्रो एव नव द्वारो स युक्त अयोध्या नामक देवपुर है और और इसी पुर म वास करने स आत्मा पुरुष कहलाता[2] है। इसी अयोध्या नामक देवपुर के भीतर हिरण्यय[3] कोश है जिसको ज्योति स आवृत स्वग, अमृत से आवृत ब्रह्मपुरी अथवा ब्रह्म की अपराजिता हिरण्ययी पुरी भी बताया गया[4] है। यहा स्वग अथवा ब्रह्मपुरी उस आनन्दादि का स्रोत है जिसके विषय म अथववेद[5] १० २ ६ म प्रश्न किया गया कि पुरुष आनन्दो और नन्दो को कहाँ स लाता है? इस अमृत स आवृत ब्रह्मपुरी की तुलना ऋग्वेद[7] के उस अमृत लोक से की जा सकती है जहाँ भी इसी प्रकार अजस्र ज्योति के साथ साथ आनन्द मोद मुद प्रमुद तृप्ति आदि का अस्तित्व स्वीकार किया गया है। इससे

---

१ अष्टचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयो या (१०,२,३१)

२ पुर यो ब्रह्मणो वेद यस्या पुरुष उच्यते (१०,२,२८)

३ तस्या हिरण्यय कोश स्वर्गो ज्योतिषावृत (१०, , ३१)

४ यो वै ता ब्रह्मणो वेदामृतेनावृता पुरम् (१० २ २९)

५ पुर हिरण्ययी ब्रह्मा विवेशापराजिताम् (१०,२,३३)

६ आनन्दानुमो नन्दाश्च कस्मात् वहति पूरुष ।

७ ९ ११३,७ ११ ।

स्पष्ट है कि वेदों के अनुसार अयोध्या रूपी मानव शरीर का हिरण्ययकोश ही उसका आनन्दमय स्तर है।

हिरण्यय कोश से प्रवाहित होने वाला आनन्द मानव शरीर के एक दूसरे स्तर पर पहुंचकर मूर्धातत्त्व (ज्ञान) मिश्रित हृदयतत्त्व हो जाता है—इसी स्तर को अथर्ववेद में अयोध्या का देवकोश कहा गया जिसकी रक्षा करने के लिए मन प्राण तथा अन्न नामक तीन अन्य कोशों की कल्पना की गई है —

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत्।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः।
तद्वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः।
तत् प्राणो अभिरक्षति शिरो अन्नमथो मनः (१०.२.२६.२७)

पांचवां पुरुष आनन्दमय

अथर्ववेद में वर्णित उक्त पंच कोशों का निरूपण कुछ विस्तार के साथ तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली में देखा जा सकता है। दोनों में मुख्य अन्तर केवल इतना है कि जहां अथर्ववेद अयोध्या रूपी मानव शरीर के पांचों कोशों में एक ही पुरुष की कल्पना की गई है वहां तैत्तिरीयोपनिषद् में उक्त पांचों कोशों को पांच पुरुषों के रूप में माना गया है और उन पांचों की एकता तथा अभिन्नता जतलाने के लिए अन्नमय से लेकर आनन्दमय तक प्रत्येक परवर्ती पुरुष को अपने पूर्ववर्ती का आत्मा बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त अथर्ववेदीय पंच कोशों में से मन को मनोमय तथा देवकोश और हिरण्यय कोश को क्रमशः विज्ञानमय तथा आनन्दमय नाम दिया गया है। इन सब के स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध को समझने के लिए संक्षेप में उनमें से प्रत्येक का कुछ विवेचन यहां किया जाता है —

१ इनमें से पहला पुरुष तो यही अन्नरसमय (हाड़ मांस का बना स्थूल शरीर) है—स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः। तस्येदमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा (तै० उ० २,२)—इसका सिर, इसका दक्षिण अथवा उत्तर पक्ष, इसका भीतर और बाहर सभी कुछ स्थूल एवं हाड़-मांस से बना शरीर है।

२ उक्त अन्नरसमय पुरुष के अतिरिक्त एक भीतरी आत्मा दूसरा है जो प्राणमय है और जिसके द्वारा अन्नरसमय पुरुष पूर्ण हो रहा है—एतस्मादन्नरसमयात् अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः। तेनैष पूर्णः। तस्य प्राण एव शिरः। व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी

पुच्छ प्रतिष्ठा (तै०उ० २,)—अन्नरसमय पुरुष के विविध अंगों में जो शक्तियाँ काम कर रही हैं वे वस्तुतः प्राण की शक्तियाँ हैं। अतः अन्नरसमय पुरुष में व्याप्त हुआ भीतरी आत्मा प्राणमय पुरुष बताया गया है, जिसके शिर दक्षिण पक्ष उत्तर पक्ष आदि सभी अंग विविध प्राण ही हैं। प्राणमय पुरुष के भीतरी आत्मा को अवश्य प्राणों की अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तत्त्व मानना पड़ेगा। अतः उसको मनोमय आकाशतत्त्व कहा गया है जब कि अन्नरसमय के स्थूल पृथ्वी-तत्त्व को प्राणमय पुरुष की पुच्छ प्रतिष्ठा बतलाया गया है क्योंकि इन दोनों के बिना तो वह रह ही नहीं सकता और न कर्म ही कर सकता है। प्राणमय पुरुष का ज्ञान होते ही कम से कम इतना तो समझ में आ ही सकता है कि प्राण ही आत्मा है, जिसकी शक्ति या वाक् स्पंदन बोलना चलना आदि अनेक रूपों में व्यक्त होती है। प्राण को पति और वाक् या शक्ति को उसकी पत्नी मान लें तो हम यह कह सकते हैं कि इस अवस्था पर दोनों एक दूसरे से पूर्णतया अलग जाने जा सकते हैं—एक तो शरीर के प्राण रूप में और दूसरे शारीरिक कर्म या आचरण के रूप में।

३ प्राणमय के भीतर रहने वाला मनोमय आत्मा ही तीसरा पुरुष है जिसके द्वारा प्राणमय परिपूर्ण हो रहा है —

"तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयात् अन्यो अन्तर आत्मा मनोमयः तेनैष पूर्णः— तस्य यजुरेव शिरः। ऋग् दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वांगिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा।"

प्राणमय के सञ्चलन पर सूक्ष्म चिन्तन करने से यह सहज ही पता लग जाता है कि हमारे नाना प्राणों का सञ्चालन और नियन्त्रण करने वाला तत्त्व प्राण से अलग और कोई है। आज का शरीरशास्त्र और मनोविज्ञान भी यह बात मानते हैं कि ज्ञानतन्तुओं और मज्जा-तन्तुओं में प्रवाहित होने वाली शक्ति के बिना प्राणमय कोश का भी सारा काम बन्द हो जायगा। यही शक्ति मनोमय पुरुष की है। इसकी कुल तीन शक्तियाँ हैं —ज्ञान क्रिया और इच्छा, जिनको वेद में क्रमशः यजु ऋक और साम कहा गया है। इन तीनों को यहाँ मनोमय का क्रमशः शिर दक्षिणपक्ष और उत्तरपक्ष कहा गया है, परन्तु जिस प्रकार शिर और दोनों पक्षों का आधार पुच्छस्थान होता है उसी प्रकार इन तीनों शक्तियों का आधार पराशक्ति है—उसके बिना इनमें किसी का अस्तित्व नहीं रह सकता है। इसी पराशक्ति को वैदिक भाषा में अथर्वांगिरस कहा गया है क्योंकि जैसा अन्यत्र कहा गया है, परावाक् सभी अंगों की शक्तियों का सार होने के कारण 'आंगिरस' तथा मनोमय आदि

नीचे के कोशों में जाना आरम्भ करने के कारण 'अथ अर्वाक' या अथर्वा कहलाती है। इसका एक नाम 'श्रद्धा' भी कदाचित् श्रद्धू (नीचे की ओर जाने वाली), श्रृद्ध (निष्कामिता) आदि शब्दों की भाँति इसी प्रकार का अर्थ रखता था। या तो श्रद्धा शब्द 'श्रत्' और 'धा' से निकला है[1] जिसमें श्रत् का अर्थ गतिशील अथवा मुक्त प्रतीत होना है[2], श्रत् इन्द्र[3] की शक्ति का भी नाम है, जो न केवल हमारी इन्द्रियों का काम करती है, अपितु मनोमय का प्रथम रूप भी इसी से उत्पन्न होता है। पराशक्ति को श्रद्धा (श्रत धारण करने वाली) कहना ठीक ही है क्योंकि 'परा' हमारी शक्तियों का बीज है। अतः ऋ० वे० १० १५१ में श्रद्धा से श्रत् प्रदान करने के लिये प्रार्थना की गई[4] है।

परन्तु इच्छा, ज्ञान क्रिया अथवा साम यजु ऋक् शक्तियों का प्रेरक कौन है? मनोमय पुरुष किसके द्वारा सञ्चालित होता है? वर्तमान प्रयोगात्मक विज्ञान इसका उत्तर नहीं दे सकता, क्योंकि वह 'मनोमय' से परे कोई अन्य तत्त्व मानव शरीर में नहीं मानता, परन्तु यदि हम एकाग्रचित्त होकर सोचें कि अमुक परिस्थिति विशेष में अमुक भाव या विचार कैसे और कहाँ से उठ गये हैं तो हम पता लगेगा कि पहले हमारे भीतर एक लहर सी अथवा महात्माओं के शब्दों में एक 'पुकार' सी आती है, जो हमारे मन के भीतर विचार भाव या क्रिया को प्रेरित करने वाली वृत्ति को जगा देती है। इसी को 'अन्तरात्मा की पुकार' या आदेश कहते हैं। इसी को मनोमय का आत्मा कहा गया है। यही विज्ञानमय पुरुष है जिसको अथर्ववेद में देवकोश भी कहा गया है।

४ मनोमय के भीतर रहने वाला आत्मा ही चौथा पुरुष विज्ञानमय है—

एतस्मान्मनोमयात् अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरपक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।

इस विज्ञानमय पुरुष के दक्षिण और उत्तर पक्ष क्रमशः सत्य तथा ऋत बताये गये हैं। इन दोनों शब्दों के प्रचलित अर्थ अत्यन्त भ्रामक हैं, यहाँ उनसे

---

१ ऋ० वे० १.५५.८, १०३,५ १०४.७, २,१२,५ ८.७५.२, १०,३६,५ १४७, १,१५१,८।

२ तुलना करिये ऋ० वे० ८.७५.२

३ ऋ० वे० १.१०२.१ ८८.८, १०.१४७.१।

४ ऋ० वे० श्रद्धे श्रद्धापयेह न १०,१५१,५

काम नहीं चल सकता। उपनिषद्[1] में लिखा है कि सत्य शब्द में 'स' और 'य' ही सत्य के द्योतक हैं और दोनों के बीच का 'त्' अनृत का वाचक है। इससे स्पष्ट है कि सत्य का अर्थ प्रचलित अर्थ से विपरीत अनृतपूर्ण सत्य भी हो सकता है।

वस्तुतः सत्य और ऋत का जोड़ा आध्यात्मिक प्रसंगों में प्रचलित अर्थ से कुछ भिन्न अर्थ रखता है। इनका अर्थ क्रमशः सत्व (being) और भाव (becoming) अथवा सत्ता और विकृति किया जा सकता है। पहला स्थिरता या निष्क्रियता का सूचक है दूसरा परिवर्तन या विकार का। नाम रूपात्मक जगत् में ये दोनों तत्त्व सापेक्षिक रूपों में ही मिलते हैं न यहाँ सत्व (being) ही प्रात्यन्तिक है और न भाव (becoming) ही। अतः आदित्य को सत्य तथा अग्नि को ऋत कहा जाता है। परन्तु अग्नि तथा उसके प्रकाश में अग्नि को सत्य तथा प्रकाश को ऋत कहा जाता है।[2] उसी प्रकार यदि सृष्टि या उसकी उपकरणीभूत वाक् को ऋत कहा जाता है तो स्रष्टा को सत्य कहा जाता है[3] या सत्यमय माना जाता है परन्तु वही स्रष्टा ऋत कहा जाता है जब उसकी तुलना ब्रह्म से की जाती है।[4] एवं ही स्थूल शरीर की अपार विकारशीलता को देखकर मन तथा सीम प्राण नाम रूप आदि को सत्य कहा जाता है।[5]

इस विवेचन से यह सिद्ध है कि ऋत शब्द विकार परिवर्तन या गति वाची भाव शब्द का पर्याय है और सत्य शब्द से सत्व में अन्तर्गत उस स्थिरता या अगति का बोध होता है जिससे ऋत या भाव की गति अथवा विकृति का सूत्रपात होता है। अतः ऋत या भाव (becoming) को यथार्थ में, गतिशील या विकृतिमय सत्व (being) कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से सत्य और ऋत को एक ही कहा जा सकता है।[6] प्राणमय तथा अन्नमय में ऋत या भाव का इतना अधिकार रहता है कि उसके कारण एकान्तिक सत्य

१ बृ उ ३ १८ ? ६ ३।
२ अथ योऽग्नि ऋतमसावादित्य सत्यम्। यदि वासा ऋतमय (अग्नि) सत्यम्। श ब्रा ६ ४ ४ तुलना कीजिए, ऋग्‌ स ? ० ४७ नैत० ब्रा २ ? ?? १० ३ १? ६ ३।
३ श ब्रा ?४ ८ ५ ? ? ? ४ ?०
४ ऐत ब्रा २ ६ गो ब्र २ ३ २
५ श ब्रा ४ १ ४ ?०
६ श ब्रा ३ ६ ३ ?४ ?४,५,?,?५ तै ब्रा ३ ३ ५ ? तुलना करो, गोप ब्रा ? ? २३, श ब्रा ?४ ? ४ ३

का आभास भी नहीं मिल पाता। परन्तु विज्ञानमय में आकर ऋत 'सुप्त' अर्थात् सुप्त'[1] हो जाता है। इसीलिए, इस अवस्था में ऋत का सृत (सु+ऋत) कहा जाता है। जब ऋत और सत्य का तादात्म्य हो जाता है, तो सुप्त सत्य (मृत) भी नहीं रह जाता, अतः उसका नाम अमृत (अ—मृ—ऋत) हो जाता है।

अतएव विज्ञानमय पुरुष के वर्णन में श्रद्धा को उसका सिर तथा ऋत और सत्य को दो पक्ष कहने से यही अभिप्राय है कि विज्ञानमयकोश की पराशक्ति में मनोमय आदि कोषों के 'भ्रम' (शक्ति) का बीज और उसमें भाव (becoming) तथा सत्व (being) के तत्त्व विद्यमान है। परन्तु यह श्रद्धा जिस भ्रत का बीज है, वह इच्छा, ज्ञान, क्रिया भेद से तीन प्रकार का है, अतः इसका स्वरूप क्या होगा? आगमग्रन्थों में 'परा' का वर्णन करते हुए प्रायः कहा जाता है कि उसमें इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियां उसी प्रकार एकीभूत तथा अव्याकृत रूप में रहती हैं जैसे मयूराण्डरस में मयूर के विभिन्न रंग आदि। इसी बात को व्यक्त करने के लिए उक्त वर्णन में विज्ञानमय पुरुष की आत्मा को योग बताया गया है। हमारी जो आत्मा स्थूल तथा सूक्ष्म शरीरों में मानो विभिन्न शक्तियों के रूप में बिखरी सी रहती है, वही विज्ञानमय कोश में एकत्र और एकीभूत होकर 'योग' कहलाती है। विभिन्न इन्द्रियों में विभक्त इन्द्र यहां पर 'योग' हो जाता है।[2] यह हमारी सभी मानसिक वृत्तियों का[3], ऋत का[4], और अमृत का[5] योग है। यहीं पर ऋक, यजु तथा साम शक्तियां मिलती हैं अतः इसे 'छन्दसां योग' भी कहा गया है जिसको जानना अतिकठिन है।[6] परन्तु इसको जानना आवश्यक है, क्योंकि इसके बिना 'यज्ञ' सिद्ध[7] नहीं होता। और जो अनूचान ब्राह्मण इस योग को जान लेता है 'मुक्त' हो जाता है उसे फिर यजमान कहलाने की, यज्ञ करने की अपेक्षा नहीं रह जाती।[8] इसी को 'जिष्णु-योग' भी कहा जाता है, जिसकी प्राप्ति के लिए शरीरस्थ सभी इन्द्र-

---

१ सुषुप्त—स्थान प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा माण्डू. उप. १.११
२ ऋ. वे. १.५.३ अ. वे. १०.५.१.६.२०.६९.१
३ ऋ. वे. १.१८.७
४ वही १०.३०.११
५ ,, ३.२७.११
६ ,, १०.११४.६
७ ,, ८.७
८ ,, ८.५८.१०

शक्तियों को युक्त करने का यत्न आवश्यक है।[1]

यह योग आत्मा यथार्थ में 'आनन्दमय' होता है इसीलिए विज्ञानमय पुरुष की पुच्छप्रतिष्ठा मह बतलाई गई है और 'मह' का साधारण अर्थ ज्योति या आनन्द होता है। जिस मह को उक्त पुरुष की प्रतिष्ठा कहा गया है, उसका वास्तविक नाम ज्येष्ठ मह है जो ऋत की अनेक धाराओं का मूल स्रोत है[2] जो विभिन्न इन्द्रिय विशेषों में काम करने वाले इन्द्र का साधारणीकृत रूप है[3] और जो इन्द्र के सदन में वृद्धि को प्राप्त करने वाला सोम का मह[4] है। यही सौन्दर्यानुभूति की वह अवस्था है जिसे रसशास्त्रियों ने मधुमती भूमिका या साधारणीकरण की अवस्था कहा है और जो सविकल्पक समाधि के समकक्ष है। इसी मह या आनन्द का दूसरा नाम प्रिय भी है जिसका उदय उक्त श्रद्धा के बिना नहीं हो सकता, अतः श्रद्धा से इसके उदय के लिए प्रार्थना की जाती है[5]—

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं मऽउदितं कृधि ।

अतः विज्ञानमय पुरुष के आधार (प्रतिष्ठा) को मह, प्रिय या आनन्दमय कहा जा सकता है—

५ विज्ञानमय पुरुष के भीतर रहने वाला आनन्दमय पाँचवाँ पुरुष है—

तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः तेनैष पूर्णः । प्रियमेव शिरः । आमोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोदो उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।

इस वर्णन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह आनन्दमय पुरुष वही योग है जो विज्ञानमय का आत्मा कहा जा चुका है और इसका शिर वही प्रिय या मह है जो उसकी पुच्छप्रतिष्ठा कहा गया है। जैसा ऊपर कह चुके हैं योग तथा प्रिय दोनों में एकमात्र आनन्द की अनुभूति रहती है। आनन्दमय पुरुष के दोनों पक्ष आनन्दवाची आमोद प्रमोद हैं और उसमें रमने वाला आत्मा भी आनन्द है। अतः आनन्दमय पुरुष को केवल आनन्दस्वरूप कहा जा सकता है। इसकी 'पुच्छप्रतिष्ठा' को ब्रह्म कहने से केवल यही अर्थ हो सकता है कि आनन्दस्वरूप

---

१ अ वे १०.५.६
२ ऋ वे ७.४३.४
३ वही ८.६१.४७
४ वही ६.३१ ३ १० ४३ ३
५ देखिए सौन्दर्यानुभूति

पुरुष का आधार ब्रह्म ही है। 'हिरण्ययकोश' के वर्णन में हम देख चुके हैं कि यह आनन्दमय ज्योतिमय है। यही वह स्वर्ग है जहाँ अमृत ज्योति का उल्लेख किया गया है। विज्ञानमयकोश में यही ज्योति ऋत के संयोग से मूर्त गतिवती या विकृतिमयी हो जाती है, इसीलिए परा शक्ति या श्रद्धा को ऋत (विकृतिमयी या गतिवती) में (ज्योति) कहा जा सकता है। अतः सत्य श्रद्धा से युक्त विज्ञानमय का शरीर क्रमश सत्व भाव (रज) तथा तम से युक्त कहा जा सकता है। इसी दृष्टिकोण से 'परा' को दर्शनों में सत्व रज तम गुणों से युक्त प्रकृति कहा गया है। परन्तु उपर्युक्त के अनुसार प्रकृति के उक्त तीन गुण भी आनन्दमय में क्रमश प्रिय आमोद तथा प्रमोद में परिवर्तित हो जाते हैं जिससे कि वह केवल आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही रह जाता है।

परमानन्द, आत्मानन्द और आनन्द

पाँच कोशों तथा उनमें रमन वाले पाँच पुरुषों के उपर्युक्त वर्णन से यह भली भाँति स्पष्ट हो सकता है कि उक्त पाँच कोश वस्तुत एक ही मानवीय व्यक्तित्व के पाँच स्तर हैं और उक्त पाँच पुरुष भी एक ही आत्मा के कोशभेद पर आधारित पाँच नाम हैं। पाँचों कोशों का पुरुष यथार्थ में एक आत्मा है यद्यपि प्रत्येक कोश में उसका और स्वरूप दिखाई पड़ता है। इस पुरुष की उपमा एक ऐसे व्यक्ति से दे सकते हैं जिसके चारों ओर एक एक करके शीशे के विभिन्न रंगवाले पाँच घर हों। जिस प्रकार उस व्यक्ति का स्वरूप हर एक शीशे से एक निराले ढंग का ही दिखाई पड़ेगा उसी प्रकार एक ही पुरुष विभिन्न कोशों में अलग अलग ढंग का प्रतीत होता है।

एक दूसरी दृष्टि में उक्त पञ्चविध आत्मा की त्रिविध रूप में भी कल्पना की गई है। इन तीनों के नाम[1] क्रमशः सम्राज, स्वराज एवं विराज कहे गए हैं और जिनको आनन्द के सन्दर्भ में परमानन्द, आत्मानन्द एवं विविधानन्द कहा जा सकता है। राज् दीप्तौ से निष्पन्न उक्त तीनों नामों का अर्थ क्रमशः (१) सम्पूर्ण अथवा सम्यक् रूप से प्रकाशित (२) स्वरूप में प्रकाशित तथा (३) विविध रूप में प्रकाशित प्रतीत होता है। ऊपर जिसे हिरण्ययकोश, ब्रह्मपुरी या आनन्दमय कहा गया है बृहदारण्यक[2] उपनिषद् में वही सम्राज है जिसकी आत्मा को परमानन्द परमलोक, परमगति तथा परम सम्पदा भी कहा गया है। जिसे ऊपर देवकोश या विज्ञानमय पुरुष कहा गया है वही इस प्रसंग में

१ वै० द० पृ० ४६ ५६

२ ४ ३, ३१ ३२

स्वराज है जो विजानन् आत्मरति आत्मक्रीड आत्ममिथुन एव आत्मानन्द' कहलाता है । इसी प्रकार मनोमय को केवल आनन्द कहा गया है क्योंकि मन ही आनन्द दाता' है जिसके कारण' ही सोता हुआ व्यक्ति स्वप्न में जाग्रत अवस्था के सारे आनन्दों मोदों और प्रमोदों की रचना कर लेता है । अत आनन्दमय के परमानन्द और विज्ञानमय के आत्मानन्द को मनोमय में केवल आनन्द कहने का अभिप्राय यही है कि मनोमय ही स्थूल देह के आनन्द मोद तथा प्रमोद की विविधता का कारण है । अत इसी विराज (मनोमय) के अन्तर्गत प्राणमय' के प्रियम् तथा अन्नमय के सुखम् नामक आनन्दों की झलकियों को भी रख सकते है । दूसरे शब्दों में अथर्ववेद ने जिस हिरण्मयकोश को अमृत से आवृत स्वर्ग या ज्योति से आवृत ब्रह्मपुरी कहा है उसी आनन्दमय पुरुष का परमानन्द ही विज्ञानमय के आत्मानन्द तथा मनोमय आदि के विविध आनन्दों का स्रोत है । आनन्दानुभूतियों के इस परम स्रोत परमानन्द की तुलना विष्णु के उस परम पद से भी की जा सकती है जिसमें मधु का उत्स बताया जाता है और जिसको उक्त परमानन्द या ब्रह्मपुरी की भाँति केवल ब्रह्मवेत्ता लोग ही जानने में समर्थ हो पाते हैं । इस प्रसंग में यह भी ध्यान देने योग्य है कि उक्त परमानन्द आत्मानन्द तथा आनन्द के विविध स्थानों की भाँति विष्णु के भी तीन पद' हैं जो तीनों ही मधु से पूर्ण बतलाये जाते हैं । यह मधु निस्सन्देह उक्त आनन्द ही है ।

आनन्द का स्वरूप

वैदिक साहित्य में इस आनन्द के स्वरूप को भी आंकने का प्रयत्न किया गया है । बृहदारण्यक उपनिषद में मनुष्य लोक से लेकर ब्रह्मलोक तक के आनन्द का निरूपण इस प्रकार किया गया है— जो मनुष्यों में सब अंगों से पूर्ण समृद्ध दूसरों का अधिपति और मनुष्य सम्बन्धी सम्पूर्ण भोगसामग्रियों से सर्वाधिक सम्पन्न होता है उसका सुख मनुष्य का परमानन्द है । इस प्रकार के सौ मनुष्यानन्द पितृगण के एक आनन्द के समान तथा पितरों के सौ आनन्द गन्धर्वों के एक आनन्द के समान हैं । गन्धर्वलोक के सौ आनन्द मिलकर कर्मदेवों के एक

---

१ बृ० उ० ४ १, ६
२ वही, ४ ३, १०
३ वही, ४ १, ३
४ विष्णो पदे परमे मध्व उत्स (ऋ० वे १ १५४, ५)
५ यस्य त्री पूर्णा मधुना पदानि अक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति (ऋ० वे० १, १५६ ४)

आनन्द की एव कमदेवो क सो आनन्द आजानदेवो के एक आनन्द की समता करत है। आजानदेवो का सो गुना प्रजापति लोक का आनन्द और उसका सो गुना ब्रह्म लोक का आनन्द है। यही परमानन्द है यही ब्रह्मलोक है।"

लगभग यही आनन्द मीमासा कुछ हेर फेर के साथ तैत्तिरीयोपनिषद् की ब्रह्मानन्दवल्ली म देखी जा सकती है—सषाऽऽनन्दस्य मीमासा भवति। युवा स्यात् साधु युवा अध्यायक आशिष्ठो द्रढिष्ठो बलिष्ठस्तस्यय पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात्। स एको मानुष आनन्द। त य शत मानुषा आनन्दा। स एको मनुष्यग धर्वाणामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते ये शत मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दा। स एको देवगन्धर्वाणामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। त य शत देवगन्धर्वाणामानन्दा। स एक पितणा चिरलोकानामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। त य शत पितणा चिरलोकलोकानामानन्दा। स एक आजानजाना देवानामानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। त य शतमाजानजाना देवानामानन्दा। स एक कमदेवाना देवानामानन्द। य कमणा देवानपियन्ति। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। त य शत कमदेवानामानन्दा स एव इन्द्रस्यानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। ते य शतमिन्द्रस्यानन्दा ■ एको बृहस्पतरानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। त य शत बृहस्पतेरानन्दा। स एक प्रजापतरानन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य। त य शत प्रजापतेरानन्दा स एको ब्रह्मण आनन्द। श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य।

अर्थात्—यह आनन्दसम्बन्धी मीमासा है। साधु वेदाध्यायी सुशासक दृढ-अगवान् तथा बलवान् युवक को यह धनपूर्ण समस्त पृथिवी प्राप्त हो जाय तो यह ही मानवलोक का सवश्रेष्ठ आनन्द है। जो मनुष्य सम्बन्धी सो आनन्द है वही मनुष्यगन्धर्वो का एक आनन्द होता है किन्तु इन सबस अधिक विरक्त वेदज्ञ पुरुष को स्वाभाविक आनन्द प्राप्त है। मनुष्यगन्धर्वो के सो आनन्दो की तुलना ■ देवगन्धर्वो का एक आनन्द है—वह भी कामनाओं म ऊपर उठे हुए वेदज्ञ का स्वभावत प्राप्त है। देवजातीयगन्धर्वो क शत आनन्द पितृलोक के एक आनन्द क तुल्य हैं और वह भी भोगो के प्रति निष्काम वेदज्ञ पुरुष को निसगत प्राप्त है। इसी प्रकार पितरो क जो ये सो आनन्द हैं व आजानज नामक देवताओं का एक आनन्द है और वह भी निष्काम वेदज्ञ पुरुष को स्वत प्राप्त है। शत आजानज देवो क आनन्द की अपेक्षा कमदेवो का एक आनन्द अधिक है जो कि वदोक्त कर्मो स देवभाव को प्राप्त देवो को प्राप्त है वह भी लौकिक भोगलिप्सा म दूर श्रोत्रिय क पास है। इन कमदेवताओं क सो आनन्द क समान स्थायीदेवो का एक आनन्द है और वह भी श्रोत्रिय को

प्राप्त है। देवताओं के सौ आनन्द में इन्द्र का एक आनन्द बनकर है, वह आनन्द इन्द्र के भोगों की कामना से रहित मनुष्य को स्वतः प्राप्त है। इसी प्रकार इन्द्र के आनन्द से बृहस्पति का आनन्द श्रेष्ठ है। बृहस्पति के आनन्द की अपेक्षा प्रजापति का आनन्द सौगुना है। और प्रजापति के आनन्द से बढ़कर ब्रह्म का एक आनन्द है वह भी ब्रह्मलोकादि के भोगों में निर्लिप्त श्रोत्रिय को स्वभावतः प्राप्त है।

परमानन्द से आनन्दवैविध्य तक

उक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक दृष्टि में हिरण्मयकोश (ब्रह्मपुरी) का परमानन्द ही मनोमय से अन्नमय तक विविध आनन्दों के रूप में व्यक्त होता है। मुण्डक[1] उपनिषद् में हिरण्मयकोश को हिरण्मयकोश, दिव्य ब्रह्मपुर, व्योम कहा गया है जिसमें आत्मा या निष्कल ब्रह्म की स्थिति मानी गई है। यह[2] आत्मा आनन्दरूप है, अमृत है जिसका ज्ञान विज्ञानमय कोश की सहायता से ही सकता है। यही आनन्दस्वरूप अमृत आत्मा मनोमयरूप होकर प्राणमयकोश के द्वारा अन्नमयकोश में हृदय का सन्निधान बनाकर नाना प्रकार के सुखों, प्रमोदों, आमोदों और आनन्द बिन्दुओं की प्रियता के रूप में प्रकट होता है —

> मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय
> तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति
> (मु० उ० २,७)

इसी आनन्दमय[3] आत्मा को भीतर-बाहर सर्वत्र व्याप्त दिव्य अमूर्त पुरुष अज तथा अक्षर बताया गया है जिससे मनोमय से लेकर अन्नमय तक विविध प्रकार के भाव उत्पन्न होकर उसी में उसी प्रकार लय हो जाते हैं जिस प्रकार सुदीप्त अग्नि से सहस्रों सरूप चिनगारियाँ। यह निष्कल ब्रह्म या आत्मा यद्यपि स्वयं अप्राण अमन तथा शुभ्र है परन्तु इसी से प्राण, मन एवं इन्द्रियों की उत्पत्ति

---

१ दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः (२—७)
हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्कलम् (२—६)

२ तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति (२ ७)

३ तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥

सृष्टि होती है।[1] इसी में मूर्धातत्त्व के रूप में अग्नि तथा हृदयरूप में विश्व, चक्षुओं के रूप में चन्द्रसूर्य, श्रोत्रों के रूप में दिशायें तथा प्राण के रूप में वायु मानवशरीर में उत्पन्न[2] होता है। मूर्धा एवं हृदय अग्नि तथा सूर्य आदि के इस आदिस्रोत आत्मा को 'सोम' नाम भी दिया गया प्रतीत होता है।[3] इस दृष्टि से मूर्धा एवं हृदय से सम्बन्धित सोम नामक आत्मा की तुलना अथर्ववेद[4] के 'उस' अथवा 'पवमान' से भी की जा सकती है जो मानवशरीर में मूर्धा एवं हृदय को एक साथ सीकर (समीव्य) मस्तिष्क या शीर्ष से प्रेरित करने वाला कहा गया है क्योंकि पवमान निस्सन्देह सोम का ही एक नाम है। इस प्रसंग में यह भी याद रखना है कि जिस प्रकार शरीर के भीतर मुण्डक उपनिषद् में अग्नि आदि की उत्पत्ति इसी आत्मा या ब्रह्म से मानी गई है उसी प्रकार उक्त अथर्ववेद के प्रसंग में भी। मानव शरीर में स्थित यह सोम पवमान नामक आत्मा ही तैत्तिरीय उपनिषद्[5] में सम्भवतः 'यह ऊर्ध्वपवित्र मुः अमृतम्' है जो शरीररूपी वृक्ष का प्रेरक माना जा सकता है क्योंकि हिरण्मय आनन्दमय कोश के परमानन्द को शुद्ध अमृत या आनन्द माना गया है तो प्राणमय तथा अन्नमय के आनन्द बिन्दुओं को दुःखमिश्रित होने से अशुद्ध माना जायगा, और समाधि की अवस्था में अशुद्ध आनन्द बिन्दुओं का मनोमय द्वारा विज्ञानमय के पवित्र (छलनी) में पवन (छनना) होता है, अतः इस पवन (छनन) क्रिया वाले हिरण्मय के आनन्द को पवमान (छननवाला) कहना उपयुक्त ही है। बल्कि दृष्टि में अन्नमयकोश अधोभाग है और विज्ञानमयकोश ऊर्ध्व है, अतः विज्ञानमय रूपी पवित्र में पवनशील आनन्द को ऊर्ध्वपवित्र कहना समीचीन हो सकता है।

१ दिव्यो ह्यमूर्तो पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।
अप्राणो ह्यमना शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः॥
एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च (मु० उ० १,२ ३)
२ अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा। (मु०उ० २० १,२ ३)
३ तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्यः सोमात्पर्जन्य ओषधयः पृथिव्यां (मु० उ० २० १,५)
४ १०,२ २६

४

वैदिक सोम

पिछले अध्याय में आनन्द की मीमांसा करते हुए हमने देखा कि आनन्द को सोम पवमान की भी संज्ञा दी गई है। और अथर्ववेद (१० २ १६) के अनुसार यज्ञ श्रद्धा और मन के साथ सोम भी मनुष्य के भीतर है। इस बात को स्वीकार करने से पूर्व यह आवश्यक है कि वैदिक सोम के स्वरूप के साथ उसकी संगति देखने का प्रयत्न किया जाय। वैदिक सोम को महर्षि अरविन्द ने अमृत और आनन्द रूपी मदिरा का स्वामी कहा है। ऋग्वेद के नवम मण्डल के सूक्त संख्या ८३ में सोम के पवित्र को स्पष्टत मानवशरीर में वितत माना गया है जिसमें पूत होकर वह सर्वत्र विभिन्न अंगों में व्याप्त होता है (पवित्र ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वत)। इसी सूक्त पर विचार करते हुए स्वर्गीय अरविन्द ने सोम के विषय में कहा है कि— 'यह तेज और आनन्दमय मदिरा छाने जाने की अपेक्षा रखती है और इसकी छलनी दिवस्पद में विस्तृत बताई गई है (तपोष्पवित्रं विततं दिवस्पदे) उसके तन्तु शुद्ध प्रकाश के हैं जो कि किरणों के समान स्थित होते हैं। इन तन्तुओं के द्वारा वह दिव्य मदिरा धारा के रूप में बहती है। यह चित्र स्पष्टत मानसिक तथा भावात्मक चेतना अथवा सचेतन हृदय (चेतस) की ओर संकेत करता है, जिसके विचार और भावों को तन्तु कहा गया है। उस शुद्ध मनस तत्त्व को जिसपर प्राण तन्तुओं अथवा शरीर की प्रतिक्रिया नहीं हुई है द्यौ कहा गया है। प्राणमय तथा अन्नमय की चेतना से पृथक शुद्ध मनोमय चेतना को दिवस्पद कहा गया है जिसके विचार और भाव सच्चे आलोचन तथा आनन्दमय मानसिक स्पन्दन की शुद्ध किरणों का रूप ग्रहण कर लेते हैं इस प्रकार प्राप्त और पूत हुआ सोम रस अब मन या तन को क्षुब्ध नहीं करता अब वह फैलता फुदकता नहीं,

अपितु मन और शरीर का रक्षण करता है (अर्वनि)।

उक्त आनन्द और सोम के बहुत से वर्णन समान हैं। जब सोम को भ्राजमान हिरण्यय[1] अथवा सम्राट्[2] कहा जाता है तो स्वभावत हिरण्ययकोश के परमानन्द की याद आ जाती है। इसी प्रकार आनन्द ब्रह्म के लिये प्रयुक्त विराज[3] का प्रयोग प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में सोम के लिये भी हुआ है। सोम के लिये प्रयुक्त मधु[4] मधुमत्तम[5], मधुच्युत[6] मधुपृष्ठ,[7] मधुपय[8] आदि शब्द स्वभावत आनन्द के लिए प्रयुक्त हो सकते हैं और इसीलिये आध्यात्मिक आनन्द के रहस्य बतलाने वाली विद्या को मधुविद्या[8] कहा गया है। पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों में एक ही तेजोमय अमृतमय पुरुष या आत्मा को पुन पुन मधु कहते हुए अन्त में उपसंहार के रूप में कहा गया[9] है कि 'तुम्हें त्वाष्ट्र मधु का उपदेश किया गया तथा जो गोपनीय मधु था।' उपनिषद की इस मधुविद्या का सम्बन्ध वेद के अश्विनौ से है जिनका मधु से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध ऋग्वेद में ही प्राप्त हो जाता है। वहां वे मधु पीने वाले मुखों से मधु पीते हैं मधु के लिए वे रस को जोड़ते हैं और वे एक मधुमत्तम दृति का वहन करते हैं।[10] अश्विनौ के वाहन हंस मनुमान[11] हैं और अश्विनौ की तीन मिथुन दृतियों के ऊपर एक मधु से भरी भरी निम्न तुरीय[12] दृति का उल्लेख मिलता है वह संभवत तुरीय ब्रह्म के आनन्दमय स्वरूप की ओर संकेत करता हो। अत कोई आश्चर्य नहीं कि महर्षि अरविन्द ने अश्विनौ को

---

1 ऋ० ६,८,१०
गो० ब्रा० १,१,१३ श० ब्रा० १४,१,१,१
३ ऋ० ६,५१-२ कौ० ब्रा० ६,६, श० ब्रा० २,३,२,१७, २, ४,१६
४ ऋ० ९,१,८, २,३, ११, ५,१८,२, ३६,४, ६२, २० ६७,११, २,६६,२ ७० ८
७२,२, ७४,२ ७५,२ इत्यादि
५ ऋ० ९,३, १६ २४ २२०, ६७,१६ १००, ९,१०५ २,१०६,६ १०८,१ इत्यादि
६ ऋ० ९ ६८,७
७ ऋ० ९,८६,४
८ ऋ० १,२४,२१,१०,४१ ३
८ बृ० उ० २ ५
९ वही
१० ४,४५,३
११ ४,४५,४
१२ ४,४५,१

आत्मा म तेजोमय अमृतमय पुरुष है और जो यह आत्मा तजोमय अमृतमय पुरुष है, यही वह है जो कि यह आत्मा है' [इस वाक्य स कहा गया है]। यह अमृत है, यह ब्रह्म, है यह सब है। वह यह आत्मा समस्त भूता का अधिपति एव समस्त भूतो का राजा है। इस विषय म दृष्टात—जिस प्रकार रथ की नाभि और रथ की नेमि म सार अर समर्पित रहते हैं, उसी प्रकार इस परमात्मा म समस्त भूत, समस्त देव समस्त लोक समस्त जीवन और ये सभी आत्माएँ समर्पित है [सभी उस परमात्मा से जुडे हुए और उसी के सहार स्थित हैं] ॥१ १५१॥

इस पूर्वोक्त मधु को दध्यङ्ङाथवण ऋषि ने अश्विनीकुमारा से कहा था। इस मधु को देखत हुए ऋषि (मन्त्र) ने कहा—मेघ जिस प्रकार वृष्टि करता है उसी प्रकार ह नराकार अश्विनीकुमारा! मैं लाभ के लिए किये हुए तुम दोना का वह उग्र दस कम प्रकट किय देता हूँ जिस मधु का दध्यङ्ङाथवण ऋषि ने तुम्हारे प्रति अश्व क सिर से वणन किया था। उस इस मधु का दध्यङ्ङाथवण ने अश्विनीकुमारा को उपदेश किया। इस देखत हुए ऋषि ने कहा है कि—हे अश्विनीकुमारो! तुम दोना आथवण दध्यङ के लिय घोडे का सिर लाय। उसन सत्यपालन करत हुए तुम्ह त्वराष्ट (सूय सम्बन्धी) मधु का उपदेश किया तथा हे शत्रुहिंसक! जो [आत्मज्ञान सम्बन्धी] गोपनीय मधु था [वह भी तुमसे कहा] ॥१७॥

द्विविध सोम

ऋग्वद के नवम मण्डल स बाहर एक सोम सूक्त (८ ४८) मे स्पष्ट कहा गया है कि आधिदविक और आध्यात्मिक सोम को ही क्रमश सभी देव और मनुष्य मधु कहते हुए सवत्र सचरण करते हैं। सम्भवत सोम के इसी द्विविध रूप की आर सकत करत हुए अमृत (सोम) के धाम को भी द्विविध होता हुआ बतलाया गया है (९ ९५ २)। इसी अभिप्राय से सम्भवत साम क वसु को दिव्य तथा पार्थिव रूप से द्विविध कहा गया है (ऋ ९ १९ १)। एक अन्य स्थान पर जब पवमान क प्रसिद्ध सत्य का उदघाटन करत हुए यह कहा[1] गया कि उसम समस्त क्रिया शक्तियाँ एकत्र होती हैं और उसकी ज्योति लोक को बनाती है ता भी आध्यात्मिक एव आधिदविक सोम का भेद ही ध्वनित होता प्रतीत होता है।

---

१ ऋ० ९ ९८ ५

आध्यात्मिक सोम

आध्यात्मिक साम के प्रसग म मति, धी, मनीषा चेतस मेधा, धीति, दक्ष, क्रतु आदि अनेक आध्यात्मिक[1] शक्तिया का उल्लेख होता है। स्थूल, सूक्ष्म एव कारण शरीर के भेद स सभवत सोम के तीन धामो की कल्पना की गई है, इनम से तृतीय धाम का सोम ऋषिमना, कविक्रतु आदि कहलाता[2] है और इन तीनो धामा से परे एक तुरीय धाम[3] की भी कल्पना की गई है जिसकी तुलना अध्यात्मवाद की तुरीयावस्था[4] स की जा सकती है। 'स्व' के भीतर अदनीय (भक्षणीय) होन स सोम को स्वादु[5] कहा जाता है। इस स्वादुभूत सोम का भक्षण वही कर सकता है जो सुमेधा एव स्वाध्य[6] (स्व का अध्ययन[7] करने वाला) है। शरीररूपी अयोध्यापुरी के सभी देव, पवमान के जिस गुप्त (निण्य) स्थान[8] म माने जात है वही समवत सुमेधा, गातुविद विश्वदेव, सोम का 'निरय[9] सदम है जहाँ वह छनता हुआ (पुनान) जाता है। अत सभवत इसी सोम को पीने स अमृतत्व, ज्योति तथा देवो की प्राप्ति होती है क्योकि इसको पी लेने क पश्चात् मानवी हिंसा की तो बात ही क्या कोई अन्य शत्रु भी कुछ विगाड नही कर सकता —

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदामदेवान्।
किं नूनमस्मा कृणवदराति किमु धूर्तिरमतमर्त्यस्य।

यह सोम, जिसको पीकर मत्य भी अमृत हो जाता है वस्तुत आन्तरिक आनन्द ही है, इसका प्रमाण यह है कि यह सोम मुखो म नही हृदया मे पिया जाता[10] जाता है। और वह वस्तुत कही बाहर स नही आता अपितु हमारे भीतर म ही अग अग म वैठ जाता है[11] और इसलिये हमारे शरीर का रक्षक

१ ऋ० ६, ६६, ९, ५ १५ ६, ८/, ७, ६ ७/, ६, ० १०, ६, ६, ६, ४ ६, १६, ४, ६, १, ३, ६, ८६, ४२
२ ऋ० ६, ६६ १८
३ ऋ० ६, ६६, १६
४ द्रष्टिये माण्डूक्योपनिषद् तथा वै० द०
५ ऋ० ८, ४८, १ ६
६ ऋ० ८, ४८, १
७ स्वा य स्वाध्ययन —सायण
८ ऋ० ६, ६३, ४
९ वही ८,
१० यो न शिवो [illegible] पीत अमर्त्यो मर्त्या आविवेश। (वही, १२)
११ तु० क० ८, ४८, १० पर सायणभाष्य—"अयं सोम अस्मासु निहितोऽभूत्।"

कहलाता है —

त्वं हि नस्तन्व सोम गोपा गात्रे गात्रे निषसत्था नचक्षा

(ऋ० = ४८, ६)

आधिदैविक सोम

यद्यपि पवमान सोम के वर्णन में आध्यात्मिक सोम के साथ ही आधिदैविक सोम का भी वर्णन मिलता है, परन्तु उसमें से दोनों की पृथक् पृथक् कल्पनाओं का ढूंढ निकालना कठिन नहीं। इस प्रसंग में, सर्वप्रथम हम पवमान सोम की प्रकाशस्वरूपता को ध्यान में रखना है। शतपथ ब्राह्मण[1] के अनुसार, तो सोम का 'स्वा है ही में (प्रकाश) जिसके कारण ही वह स्वाम कहलाते-कहलाते सोम हो गया। जब सोम को श्री अथवा श्री ज्योति कहा जाता[2] है या उसका सम्बन्ध ज्योतिरजस्र[3] से बतलाया जाता है तो उसकी ज्योति स्वरूपता पर ही बल दिया जाता है —

यत्र ज्योतिरजस्रं यस्मिंल्लोके स्वर्हितम्।
तस्मिन् मां धेहि पवमानामृते लोके अक्षिते।

(ऋ० वे० ६, ११३, ७)

सोम का सम्बन्ध उस 'त्रिनाके त्रिदिवे' से भी है जहाँ ज्योतिष्मान्[4] लोकों की स्थिति बतलाई गई है। सोम के प्रसंग में नानासूर्यों से युक्त सप्त दिशाओं का उल्लेख भी उसकी ज्योतिष्मत्ता को प्रकट करता है और यही बात सोम को सम्राज विराज अथवा राजा कहने में अभिप्रेत[5] है। इसीलिए साम के साथ भ्राज, सभ्राजमान वर्चस सवर्चस हिरण्य, चन्द्र अग्नि, सूर्य आदि विविध प्रकार के ज्योति सूचक शब्दों का प्रयोग प्रायः देखने में आता है (ग० ब्रा० ३ २ ४, ६ ५ २ ५ १० ११ तै० १ ४ ७ ४५ ग० ब्रा० २ ३ ५, ६ गो० ब्रा० १ ५ १४ कौ० ब्रा० १६ ५ तै० ब्रा० १ ४, १० ७ श०

1 स्वा वै मे एषति तस्मात् सोमो नाम श० ३, ६, ४ २२।
2 श्रीर्वै सोम (श० ४ १, ३ ६) ज्यो ती ज्योति सोम
(श० ५, १ = १०, ६, ३ ५, ८)
3 लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र मामसृतं कृधि। —(ऋ० ६ ११३ ६)
4 ऋ० वे० ९ ११४ ३,
5 गो० ब्रा० १, ५, १३ कौ० ब्रा० ६, ६ श० ब्रा० ३, ३ ७, ७ ३, ६ ४ १६ इत्यादि।

ग्रा० १२, १, १, २, गा० ब्रा० १, ५, १२ ग० ब्रा० १, ६, ४, ५, २, ४, २ ७ ११ १, ४ ४ इत्यादि)

ब्रह्माण्ड का सोम

आध्यात्मिक सोम की कल्पना म जो ज्योति का समावेश दिखाई पड़ा उसका आधार बाह्यजगत् म प्राप्त प्रकाश ही रहा होगा। हम समाधि की अवस्था म जो प्रकाश नेत्र बन्द करने पर भी अपने भीतर दिखाई पड़ता है उसकी तुलना बाह्यजगत म उपलब्ध होने वाले सूर्य, उषा, चन्द्र, विद्युत् आदि से स्वत ही हो जाती है। इसी सादृश्य के आधार पर बाह्यजगत् के प्रकाश स्रोत सूर्य चन्द्र पर्जन्य विद्युत आदि को अन्तर्जगत् के प्रतीकों के रूप में भी ग्रहण किया गया।[1] अत सोम सूर्य के समान या सूर्य के साथ चमकने वाला[2] है वह अपने प्रकाश म अन्धकार को मारता[3] है, वह सूर्य[4] एव विद्युत्[5] से उत्पन्न होता है और पर्जन्य[6] उसका पिता है। सूर्या-सूक्त (ऋ० १०, ८५) मे उल्लिखित सोम जो नक्षत्रों की गोद म स्थित है वह निस्सन्देह चन्द्रमा है और ब्राह्मणों म तो चन्द्रमा को देवसोम कहा ही गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि आधिदैविक अर्थ म ब्रह्माण्ड के प्रकाशमान को सोम कहा जा सकता है। अत कोई आश्चर्य नही कि सोम से प्रार्थना[7] की जाय कि वह द्युलोक से पृथिवी पर दीप्तिमय वृष्टि करे। उषा तथा सूर्य के समान अपनी किरणों से पूर्ण करने[8] वाली या सारे विश्व को सूर्य समान प्रात प्रात करने वाली यह द्युतिमय वृष्टि अथवा सोम भरे[9] की प्राप्ति या तो हम समाधि की ज्योतिवृष्टि में मिल सकती है या प्रतिदिन होने वाली सूर्यप्रकाश वृष्टि म। इससे स्पष्ट है कि आध्यात्मिक सोम म प्रकाश की कल्पना बाह्यजगत् के प्रकाश पर ही आधारित है।

---

१ ऋ० वे० १०, २
२ ऋ० वे० ६, १, ८ ७२, ३, ११८, ३
३ ऋ० वे० ६, ६ ७, ६, १६, २२ ६६, २८, १००, ८, १०८, १२
४ ऋ० वे० ९ ६३, ९
५ ऋ० वे० ९ ८२ ३
६ ऋ० वे० ९, ८२, ३
७ ए० ब्रा० ७, ११,
८ ऋ० वे० ९, ८
९ ऋ० वे० ९, ४१, ५
१० ऋ० वे० ९ ५४, १–४

इस दृष्टि से बाह्यजगत् के प्रकाशमात्र को ही संभवतः सोम कहा जा सकता था। अतः प्रकाशमय अग्नि की भाँति सोम को भी त्रिषधस्थ कहा जाता[1] है, क्योंकि वह तीन स्थानों में रहता है और उसके तीन पवित्र (छलनियाँ) फैले[2] हुये हैं। सोम के ये तीनों स्थान पिण्डाण्ड में स्थूल, सूक्ष्म तथा कारण—शरीर और ब्रह्माण्ड में क्रमशः भूमि, अंतरिक्ष तथा आकाश प्रतीत होते हैं। एक दृष्टि से कारण शरीर या विज्ञानमय कोश ही एक 'पवित्र' है जो सारे अंगों में अपना जाल बिछाये हुए है और जिससे ब्रह्मणस्पति सोम[3] के बिन्दु छन छन कर चारों ओर छितराते हैं। उसी प्रकार ब्रह्माण्ड में 'दिवस्पद' ही एक पवित्र है जिसमें अनेक दीप्तिमान तन्तु दिवस्पृष्ठ पर स्थित होते हैं। तीनों स्थानों को तीन पृष्ठ कहा जाता था, अतः सोम प्रायः त्रिपृष्ठ भी कहलाता है। उनमें से दिवस्पृष्ठ का उल्लेख प्रायः मिलता है और संभवतः इसी को वह एक पवित्र कहा गया है जिसको पार सोम उक्त तीनों पवित्रों में छनता हुआ दौड़ता[4] है। जिस सोम के वश में यह सारा विश्व है, वह जो द्यावापृथिवी को परिपूर्ण कर देता है और समस्त ज्योतियाँ तथा स्वयं सूर्य जिसका ही कहा जाता, वह प्रथम धामधा सोम[5] मूलतः आधिभौतिक प्रकाश ही रहा होगा। इसी प्रकार दीप्त तेज द्वारा चमकनेवाले भानु और द्यावापृथिवी को प्रकाशित करने वाले एवं स्वर्ग (नाक) में स्थित उत्तम गन्धर्व के रूप में सोम की कल्पना का आधार भी निस्संदेह बाह्य प्रकाश ही हो सकता है।

पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड का सादृश्य

आध्यात्मिक और आधिभौतिक सोम के बीच यहाँ जिस सादृश्य की ओर संकेत किया गया है वह वैदिक साहित्य की एक व्यापक विशेषता है। 'वैदिक' साहित्य की मान्यता है कि सारा विश्व एक ब्रह्माण्ड है और मनुष्य देह रूपी पिण्ड उसी का एक लघु संस्करण है। अतः जो ब्रह्माण्ड में है वह पिण्ड में भी है— यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह। उपनिषदों में तो यह सिद्धान्त स्पष्ट

---

1 ऋ० ९, १०३, २
2 ऋ० ९, ६७, ५५
3 ऋ० ९, ८३, १
4 ऋ० ९, ८६, २७; ९, ८३, ३ इत्यादि
5 स श्री पवित्रा वितता यध्यन्क धावति पूयमान।
6 ऋ० वे० ९, ८६, २८-२९
7 ऋ० वे० ९, ८६, १२

रूप से बतलाया गया है। उदाहरण के लिए हमारे शरीर में जो प्राण कहलाता है वही ब्रह्माण्ड में आदित्य है और इन दोनों का विभाजन[1] इस प्रकार है —

प्राण	पिण्डाण्ड	ब्रह्माण्ड
अपान	वायु और उपस्थ का प्राण	पृथिवी
प्राण	चक्षु, श्रोत्र, मुख, नाक का प्राण	अन्तरिक्ष
समान	मध्यशरीर का प्राण	आकाश
व्यान	सारे शरीर की नाड़ियों का प्राण	वायु
उदान	ऊर्ध्व भाग का प्राण	तेज

तैत्तिरीय उपनिषद् में भी ऐसे कई रोचक समीकरण दिये गये हैं जिनमें पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड का उक्त सादृश्य स्पष्ट रूप से व्यक्त हो जाता है। यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं —

(१) महासंहिता

स्थान	पूर्वरूप	उत्तररूप	संधि	संधान
अध्यात्मम्	अधर हनु	उत्तरा हनु	वाक्	जिह्वा
अधिलोकम्	पृथिवी	द्यौ	आकाश	वायु
अधिज्योतिषम्	अग्नि	आदित्य	आप	वैद्युत

(२) व्याहृतियाँ

स्थान	भू	भुव	स्व	मह
अध्यात्मम्	प्राण	अपान	व्यान	अन्न
अधिलोकम्	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यौ	आदित्य
अधिज्योतिषम्	अग्नि	वायु	आदित्य	चन्द्रमा

(३) पाङ्क्त पुरुष

अध्यात्मम्	प्राण	व्यान	अपान	उदान	समान
	चक्षु	श्रोत्र	मन	वाक्	त्वक्
	चर्म	मांस	स्नायु	अस्थि	मज्जा
अधिभूतम्	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्यौ	दिशायें	अवान्तरदिशायें
	अग्नि	वायु	आदित्य	चन्द्रमा	नक्षत्र
	आप	ओषधियाँ	वनस्पतियाँ	आकाश	आत्मा

---

१ प्र० उ० ३,८, ३४६

सादृश्य का परिणाम

वदिक साहित्य मे पिण्ड और ब्रह्माण्ड के बीच इस प्रकार का सादृश्य अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। इस सादृश्य के फलस्वरूप, प्रारम्भ म जो पारिभाषिक शब्द केवल आध्यात्मिक जगत् के थे उनका प्रयोग कालान्तर म आधिभौतिक तथ्यो के लिए होन लगा, तथा जिन शब्दो द्वारा प्रारम्भ मे ब्रह्माण्ड की वस्तुएँ व्यक्त की जाती थी उनका प्रयोग आगे चलकर पिण्डाण्ड की वस्तुओ के लिय होने लगा। उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक म 'ब्रह्म और क्षत्र' शब्दो का प्रयोग सामाजिक क्षेत्र म हटकर आध्यात्मिक प्रसग म देखा जा सकता है —

यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत ओदन ।
मत्युर्यस्योपसेचन क इत्था वेद यत्र स ॥

पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड म सादृश्य-दृष्टि के परिणामस्वरूप ही समवत दोनो म ऐक्यभावना आई। अतएव अन्तजगत् और बहिर्जगत् के मूलतत्त्वों म एकता देखी गई। अन्न आप और तेजस क जिन त्रिवृत सयुक्त तत्त्वों से मन, प्राण एव वाक का निर्माण हुआ है, उन्ही से आदित्य और अग्नि का भी माना गया।[१] हमार शरीर म जो वाक मन चक्षु आदि शक्तियाँ हैं व यथार्थ में ब्रह्माण्ड की शक्तियो क ही रूपान्तर हैं इस बात को ऐत्तरेय उपनिषद (१ १ ३) म एक आख्यान रूपक द्वारा व्यक्त किया गया उसका साराश इस प्रकार है —

पहल अकला आत्मा ही था। उसन अम्भ मरीची, मर और आप की सृष्टि की। आप स उसने एक 'पुरुष' बनाया उसके भिन्न भिन्न इन्द्रियाँ प्रकट हुई जिनस निम्न प्रकार से ब्रह्माण्डीय देवता निकले —

अग	इन्द्रिय	देवता
मुख	वाक	अग्नि
नासिका	प्राण	वायु
आँख	चक्षु	आदित्य
कान	श्रोत्र	दिक
त्वचा	स्पर्श	ओषधि वनस्पति
हृदय	मन	चन्द्रमा
नाभि	अपान	मृत्यु
शिश्न	रेतस्	आप

१ छा० उ० ६,२ ६

पिण्ड तथा ब्रह्माण्ड के रचना-तत्त्वों और देवताओं आदि की एकता में, दोनों के पुरुषों (पुर में रहनेवालों) की एकता दिखाई थी। अत कहा गया कि जो पुरुष हमारा अन्तरात्मा होकर हमारे शरीर में बैठा है वही सहस्राक्ष तथा सहस्रपाद होकर सारे विश्व के भीतर और बाहर (श्वे० उ०, ३, ११ १४) विराजमान है। यही ब्रह्म अमृत का स्वामी है और 'भूत' तथा 'भव्य' सब कुछ इसी का है।[1] वह एक साथ ही नवद्वारवाली पुरी का निवासी देही हंस है और चर अचर का वशी भी —

नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहि ।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥

पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में एकता देखने वाली दृष्टि को दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं रह जाता। अत इसी दृष्टि के कारण वदिक मन्त्रों की दुरूहता बहुत बढ़ गई है, और कभी कभी तो ऐसा हो जाता है कि शब्दों के प्रकृत अर्थों से प्रसग विशेष में कोई अभिप्राय ही नहीं निकलता। ऋग्वेद १,१६४ के निम्नलिखित मन्त्र में त्रिष्टुभ गायत्र, जगती आदि शब्दों का प्रयोग इसी प्रकार का एक उदाहरण है —

यस्मिन् वृक्षे मध्वद सुपर्णा निविशन्ते सुवते चाधिविश्वे ।
तस्येदाहु पिप्पल स्वाद्वग्रे तन्नोन्नशद्य पितर न वेद ॥
यद्र गायत्रे अधि गायत्रमाहित त्रैष्टुभाद्वा त्रैष्टुभ निरतक्षत ।
यद्वा जगज्जगत्याहित पद य इत् तद विदुस्ते ॥

आनन्द और प्रकाश

पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड के उक्त सादृश्य को देखते हुए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि आन्तरिक प्रकाश और बाह्यप्रकाश दोनों का एक ही नाम सोम दिया जाय विशेषकर इसलिए कि दोनों ही 'सुम्'[2] नामक सौन्दर्यानुभूति का 'विभावन' करने की क्षमता रखते हैं।



---

१ श्वे० उ० ३,१४ १८

२ देखिये अध्याय १, पृ० ७-८, वै० द० १७-१८

५

पेय सोम

जिस प्रकार भौतिक प्रकाश की ज्योतिर्मयता पवमान सोम की दीप्ति का आधार बनी, उसी प्रकार सोम के माधुर्य का आधार पेय सोम का माधुर्य प्रतीत होता है। पेय सोम के विषय में कई मत व्यक्त किए जा चुके हैं परन्तु वे सब यही मानकर चलते हैं कि सोम का कोई पौधा होता था। प्रस्तुत प्रसंग में पेय सोम के स्वरूप को निर्धारित करने में सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि वैदिक साहित्य में पेय सोम के प्रतीकों द्वारा आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक सोम का ही वर्णन प्राप्त होता है और पेय सोम नितान्त पृष्ठभूमि में पड़ा रह जाता है। फिर भी उक्त प्रतीकों के सूक्ष्म अध्ययन तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान एवं कर्मकाण्ड के आधार पर पेय सोम के विषय में कुछ अधिक संभावित निश्चय पर पहुँचा जा सकता है। सोम का मुख्य नाम 'मद' है यहाँ तक कि सोमपान की सारी क्रिया भी 'मद' धातु से ही व्यक्त की जाती है। मद शहद का नाम[1] है और आधुनिक विद्वानों की सम्मति में इसका सम्बन्ध भारोपीय धातु melit से है जो अनेक भाषाओं में इस प्रकार[2] फैली हुई है

लैटिन—mel शहद

ग्रीक—meli शहद

आरमीनियन—mijal शहद

गौथिक—milip शहद

एंग्लोसैक्सन—milisc शहद सा मीठा

mildeaw शहद सी ओस

---

१ नि० ११ १

२ देखिए—Bender The Homes of Indo Europeans p—19

कानिन—mel गहद'
पु आयरिग—mil गहद
आर्मीनियन—metr गहद।

इस सूची म एग्लासक्सन mele और जोडा जा सकता है। य सभी शब्द संस्कृत 'मद स निकले हुए हैं दसकी पुष्टि निम्नलिखित शब्दों स भी होती है जिनम द स तथा इ एक दूसरे क स्थान म आ सकते हैं—

१ इ milk=ज milch=ए स meolc meloic (mel मद× olc उदक)
२ स मृदु=इ mellow=ऐं म mearw=डच murw
३ स मृलीक=डच, mollig=ऐं सें milisc
=ग्री malakos=ले mollis
४ स ईदृश (क)=ऐं स, ilc या ylc=इ ilk (इस प्रकार)
५ स नीड स नीड=ले nidus=फ nid=हि नीड=ए स nest[1]
६ स ऋभु[2]=प्र ibhu=ल Abhus=ऐं स Abbe=ऐं स Aelf
=आइस Alfr=स्व elf=इ elf=ना Alfre

आधुनिक विद्वान् भारोपीय भाषाओं म 'मद की पर्यायवाची धातु melit क अतिरिक्त meduh भी मानते हैं जो विभिन्न भाषाओं म निम्नलिखित रूपों म पाई जाती हैं—

'संस्कृत मधु (गहद मीठा पदार्थ), मधुकर (मधुप) पु बल्गारियन medu (गहद) लियुआनियन medus (गहद) medu ग्रीक medhu (मादक पय) mede 'मादकता पु हा जमन meto (शहद दूध का मिश्रण) डच mead वल्श medu अंग्रेजी "mead' इस सूची म जमन met या meth भी सम्मिलित किया जा सकता है।

उपयुक्त मद तथा मधु शब्दों की परीक्षा से प्रतीत होता है कि वास्तव म दोनों शब्द एक ही मूल धातु मद स निकले हैं। मधु क्वल मद+द्रुह का संयुक्त रूप है इसी कारण 'मधु स निकले हुए शब्दों का अर्थ प्राय गहद-

१ तुलना क ऐंग्लोसैक्सन nestlian = nestle म—निवास।
2 Kuhn s Zeitschrife 4 103-20 Wacker KZ 24 297 neve essai surle myth des Ribhavas 263 Macdonell Vedic Mythology p 134 Carnoy Les Indo Europeans p 210 Keith Rel Ved Up 38
3 Bender—The Homes of Indo Europeans p—19

में भी प्रचलित थी अतः बहुत संभव है कि भारोपीय काल में भी इसका प्रचार हो। उक्त आलेख्य में एक मनुष्य रस्सी की एक सीढ़ी से शहद निकालने के लिए चढ़ रहा है, रस्सी जिधर से मक्खियाँ आ रही हैं उधर न लटककर दूसरी ओर लटक रही है जिससे मधुमक्खियाँ डरें या घबरायें नहीं। चित्र में मनुष्य केवल लंगोट बाँधे हुए है और केवल दो एक मक्खियाँ छत्ते में से आ जा रही हैं। इसके विपरीत आजकल मैदानों में किसान धुएँ से मक्खियों को उड़ाकर अपने शरीर को कम्बल से लपेट कर जाते हैं और पूरे छत्ते को काट लेते हैं।

सोम-याग के अंतर्गत सोम विक्रय कर्म-काण्ड में भी मधुमक्खियों से मधु छीनने की एक झलक दिखाई पड़ती है। यह कर्मकाण्ड खरीदने तथा लूटने का मिला जुला रूप है क्योंकि दिव्य सोम वाक को मूल्य रूप में देकर गन्धर्व से खरीदा जाता है और पार्थिव सोम मक्खियों से छीना जाता है। इनमें से प्रथम का अभिप्राय तो आगे चलकर व्यक्त किया जायेगा, परन्तु सोम का छीनना या लूटना अवश्य ही इस कर्मकाण्ड में सुरक्षित है यहाँ तक कि सोम विक्रेता द्वारा शूद्र की मारपीट (कदाचित् दिखावटी) के बाद मूल्य देकर भगा दिया जाता है और उसके विषय में कहा जाता है कि 'वह उसी तरह रोता चिल्लाता जाता है जिस प्रकार मधु लूटने के बाद मक्षिका।'

ऋग्वेद में एक स्थान[1] पर तो स्पष्ट रूप में सारघ (मधुमक्खी का) मधु को ही सोम कहा गया है। यहाँ पर इन्द्र को सारघ मधु से मिले हुए दूध (धेनव द्रव) को पीने के लिए आमंत्रित किया गया है और इसी पेय को फिर सोम तथा इन्द्र का भोजन कहा गया है जिसके लिए इन्द्र प्यासा रहता है। मधुमक्खियों के मधु तथा सोम की एकता ऋ० वे० २ २४ ४ में स्पष्ट है क्योंकि यहाँ पार्थिव मधु प्राप्ति के रूपक द्वारा दिव्य मधु की प्राप्ति बतलाने के प्रसंग में कहा गया है कि ब्रह्मणस्पति ने जिस अश्मास्य (पत्थर जिसके मुख पर था) अवाङ्मुखी मधुधार को चीर निकाला उसको सब देवता भोगते हैं और उसी से अनेक एकसमुद्र[2] को सिंचित करते हैं। ऋ० वे० ३ ५३,११ में प्रयुक्त नैचाशाख[3] के आधार पर विद्वानों का कहना है कि सोमलता की शाखाएं

---

१ ऋ० ८, ४ ८ ११

२ तै० उ० 'आप' के अन्तर्गत 'समुद्र' की कल्पना।

३ तु० क० सायण के अनुसार इसका अर्थ 'नीच जन्म वाला' है लाट्यायन श्रौत (१०, १९ १३) के अनुसार 'स्थान का नाम' है ग्रासमैन लुडविग तथा सिमेर प्रथम अर्थ को मानते हैं परन्तु हिलेब्रांट के अनुसार इसका अर्थ 'अधोमुखी शाखाओं वाला' है (वैदिक माइथोलोजी १,१४ १८ २,२४१ २४५)

नीचे की ओर को होती थीं। परन्तु यदि इसका कुछ भी ऐसा अर्थ है तो यह मधु के छत्ते के लिए ही अधिक उपयुक्त है जिसकी जड ऊपर को तथा अनेक अधोमुखी शाखाएं होती हैं।

१ सोम वृक्ष

लोगो के हृदय मे यह बात अच्छी तरह से बैठी हुई है कि सोम का एक पौधा लता या वृक्ष होता है। अत कई विद्वानो ने इसे खोजने का प्रयत्न किया। परन्तु तारीफ की बात यह है कि सूत्र तथा ब्राह्मण ग्रंथो मे भी यह दुलभ[1] वस्तु मानी जाती है और उसके स्थान पर विभिन्न पौधो के प्रयोग का विधान किया जाता है। सुश्रुत के अनुसार तो वह ऐसी रहस्यमयी लता है जिसको अधर्मी, कृतघ्न, भेषजद्वेषी तथा ब्राह्मणद्वेषी देख ही नही सकते—

न तान्पश्यन्त्यधर्मिष्ठा कृतघ्नाश्चापि मानवा ।
भेषजद्वेषिणश्चापि ब्राह्मणद्वेषिणस्तथा ॥ (सुश्रुत २९)

ऋ० म० १० ९४ ३ म 'अरुण वृक्ष की शाखा का उल्लेख है जिसके आधार पर विद्वानो ने अनुमान किया है कि सोम का तना लाल होता होगा। परन्तु सम्पूण सूक्त पर विचार करने से यह बात स्पष्ट रूप से ज्ञात हो जाती है कि वहाँ पर एक रूपक द्वारा आधिभौतिक और आध्यात्मिक सोम का वणन किया गया है। मधुमक्खियो के छत्ते प्राय पहाडी चट्टानों या वृक्षों मे पाए जाते थे अत दिव्य सोम (प्रकाश) के विषय म भी यही कल्पना की गई। नक्षत्र मण्डित आकाश तथा मधुकोष्ठक मय छत्ते म स्वाभाविक सादृश्य था। चन्द्रमा के द्वारा वह सारा साम निकलता हुआ माना जा सकता था। अत जिस प्रकार इस सोम का जन्म उल्लिखित पहाडी चट्टान से सम्बन्धित किया गया, उसी प्रकार उक्त नक्षत्रो के छत्तो के लिए भी एक वृक्ष की कल्पना की गई। आकाश तो उस वृक्ष की डाली ही ह जिस पर नक्षत्रो का छत्ता लटका हुआ है। अत वह वृक्ष तो ज्योतिमय विश्व वृक्ष ही हो सकता है। यही अरुण (प्रकृति) का अरुण (उज्ज्वल पक्ष) वृक्ष है जिसकी जड ऊपर को है (नीचीन स्युरुपरि बुध्न एवाऽस्मे अन्तर्निहिता केतवा स्यु) और इसी के आधार पर ऊर्ध्वमूल ससार वृक्ष की भी कल्पना की गई है जो न केवल मधु के छत्ते पर ही ठीक बठती है अपितु हमारे पिण्डाण्ड पर भी भलीभाँति लागू हो जाती है।

अत उक्त सूक्त (१०,९४) म आकाशीय साम के रूपक द्वारा आध्यात्मिक

1 Maxmuller Academy 25th October, 1884

सोम का वर्णन बहुत सुन्दर ढंग से किया गया है। "ब्रह्माण्ड के समान पिण्डाण्ड में भी प्रकाश तथा अन्धकार का खेल मचा हुआ है। नेत्र और कान मूंदकर जब साधक ध्यान करने बैठता है तो उस अरुण आकाश में अनेक अन्धकार घन उठते हुए दिखाई पड़ते हैं और साथ ही वह घन गर्जन की सी ध्वनि भी सुनता है। इन्हीं बादलों को उक्त सूत्र में ग्रावा सोमधारी अद्रि या पर्वत कहा गया है जो सैकड़ों और सहस्रों के समान शब्द करते हैं जो फनवाले (विष्टी) हैं, अरुण वृक्ष की शाखा (आकाश-ज्योति) को खाते हुए फलते हैं। और अपनी बहनों (विद्युत रेखाओं) के साथ नाचते हैं तथा पृथिवी को जलधारा में आप्लावित कर देते हैं। ये सुपर्ण हैं, जिनके शब्द (वाच) करने पर दिव्य अग्नियाँ (इषिरा) कृष्ण होकर नृत्य करने लगती हैं और सूयश्वित' रेतस पुर (बहु) रूपों में स्थापित हो जाता है, वे एक साथ जुड़े हुए (साक युक्ता) तथा धुर धारण किए हुए वृषभों के समान बहते हुए प्राण हैं। यहाँ पर कृष्ण होकर नाचने वाली दिव्य अग्नियाँ अथवा सूयश्वित रेतस के नाना रूप उन बादलों में बरसने वाले भौतिक जल बिन्दु तथा आध्यात्मिक सोम कण हैं। जिस प्रकार आध्यात्मिक सोमरस दश इन्द्रियों द्वारा व्यक्त होता है उसी प्रकार भौतिक सोम (प्रकाश) भी दश दिशाओं द्वारा व्यक्त होता है। अतः ये सोमधारी अद्रि दशयन्त्रों वाले कहे गये हैं। जिनके विभिन्न प्रकार के दश दश अंग बतलाये गये हैं—

दशावनिभ्यो दशकक्ष्येभ्यो दशयोक्त्रेभ्यो दशयोजनेभ्यो
दशाभिशुभ्यो अचताजरेभ्यो दशधुरो दशयुक्तावहद्भ्यः —
ते अद्रयो दशयन्त्रास आशवस्तेषामाधान पर्येति हर्यतम्।

इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि उक्त प्रसंग में वर्णित 'अरुण वृक्ष' कोई पौधा नहीं अपितु प्रकाश का विश्व वृक्ष है। इस प्रकार के विश्ववृक्ष की कल्पना अन्य देशों के साहित्य में भी मिलती है।

२ अस यग्ग द्रसील

नार्वेजियन साहित्य में 'अस्सयग्गद्रसील' नामक ऐसा ही एक वृक्ष है। वह सारे विश्व में फैला हुआ है—उसकी शाखाएं नीफल हाइम (निम्नधाम या पाताल) की गम्भीरतम गहराइयों मिदगिद (मध्यगत या अन्तरिक्ष) के सारे प्रदेशों तथा असगद (स्वर्गलोक) के कोने-कोने तक में फैली हुई हैं। उसकी उच्चतम शाखा लेराद शान्ति प्रदायिनी है जो आलीन (आकाश का अधिष्ठाता देवता) के गृह पर छाया किए हुए है। लेराद के ऊपर एक गीध बैठा हुआ है

जिसक मन्त्री क बीच 'वेदफोलनीर' नामक एक श्यन बठा है जो अपनी दष्टि तीनों लोकों म फेंकता हुआ वहाँ की सारी घटनाओं को जान लेता है। गीध तथा श्यन का मिलाकर वही काम है जो ग्रीस क सूय दवता हेलिअस' का है। अत गीध का सूय तथा श्यन का सूय की किरण सहृति कहा जा सकता है। यह सदा हरा रहन वाला तथा कभी न मुरझान वाला वक्ष है जिसके पत्तों को दवा वे मृग नक्षत्र चरा करत हैं। चन्द्रमा आल्मीन का हाइडोन' नामक बकरा है जो इस वक्ष को अपना चरागाह बनाए हुए है। यह चन्द्र रूपी मीड (साम) का प्रमुख स्रोत है यद्यपि मृगरूपी नक्षत्रों स भी इसकी प्राप्ति होती है। इसी वक्ष की शाखाओं तथा पत्तियों द्वारा जो दिव्यजल टपक पडता है उसी स मधुमक्खियाँ छत्ते मे शहद बनाती हैं। मृगरूपी नक्षत्र भी प्रतिदिन मधुमती धाम टपकाते हैं।

इस वृक्ष[1] पर दवों का भाग्य आश्रित है और इसी म प्रतिदिन दवों की बठक होती है परन्तु यह सुरक्षित नहीं है। नीफल्ह हाइम (पाताल) के ह्वर्गेनीर नामक कुड म एक नीधुग नाम का राक्षस है जो अन्धकार रूपी असख्य कीडों क साथ इस वक्ष की जडों को काटा करता है क्योंकि इस वक्ष क गिरत ही 'अस (स्व) प्रकाश नष्ट हो जायगा और फलत देवता मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे।

Through all our life a temper prowls malignant
The cruel Nidhung from the world below
He hates Asa light whose rays benignant glow
On the hero s brow and glittering sword bright
(Viking Tales of the North tr R B Anderson)

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जिस प्रकार वश्वानर के 'स्व' से सारे देवताओं का पोषण होता है और व स्वदृश या 'स्वय' कहे जाते हैं, उसी प्रकार नार्वे जियन देवता भी अस (स्व) क सहारे जीते हैं तथा असीर (Alsir) कहलाते हैं।

३ गेओकेरेन श्वेतहोम (सोम) का वृक्ष

ईरान म सोम को होम कहा जाता है और वह श्वत तथा पीत दो प्रकार का है। पीत होम तो पार्थिव पेय है और श्वेत होम स्वर्गीय। श्वेत होम का वृक्ष गेओकेरेन है जिसका वणन अस यग्गद्रसील से बहुत कुछ मिलता है।

---

१ तु० क० यस्मिन् वृक्षे सुपलाशे देवै संपिबते यम। ऋ० वे० १०, १३५ १ २ आ

अस यग्गद्रमील स बहुत कुछ मिलता है। असयग्गद्रमील की भाँति यह वृक्ष भी सारे विश्व क पुनर्जीवन तथा भावी अमरत्व क लिय आवश्यक है। अस यग्गद्रसील मिमीर कूप क तट पर है और गेम्रोकेरेन की बढ क पास वउरु कश सागर है, जिसम सहस्रो झीलो के बराबर जल है। "सम अद्वीसर' स सहस्रो स्वण नलिकाओ द्वारा गम तथा स्वच्छ जल आकर भरता रहता है। नि सन्देह यह गम तथा स्वच्छ जल सूय का प्रकाश है जो 'अरवी सूय (अर्द्वीसूर) स आकर उहस (वउर कश) मे जमा होता है। वउरु कश को ही अवेस्ता म असहे सयो तथा ऋग्वेद म ऋ ऋतस्य और उत्स उद्गीणम्' कहा जाता है। पृथिवी स एक सहस्र मनुष्यों की ऊँचाई पर स एक स्वर्णिम शाखा उस गम जल के स्रोत स निकलकर वउरु कश' म होती हुई पृथिवी को आती है जिसस शुष्क वातावरण आद्र हो जाता है और अहुरमज्द' की सृष्टि को आरोग्य प्राप्त हो जाता है।

परन्तु अहुरमज्द तथा देवताओं का कट्टर शत्रु अग्रम यु इस वृक्ष को पसन्द नहीं करता। अत नार्वेजियन नीधुग की भाँति इस अन्धकार क देय न एक छिपकली उत्पन्न कर रखी है जो दम की जडो को धीरे धीरे काट रही है। पृथिवी पर मनुष्य के आगमन स पहले 'अग्रमैन्यु ने बडे बडे घातक तथा भयकर जन्तु उत्पन्न कर रखे थे, जिनके विनाश के लिए तिश्य नामक सूय देवता ने होम (सोम) का वपा की। अत दस दिन तथा दस रात तक होम अपन तीनो रूपो म बरसता रहा जिसके फलस्वरूप बहुत बडा जल प्लावन हुआ और सारे दुष्ट जन्तु मिट गय।

पार्थिव होम स्वग होम से भिन्न है। यह अलबुज पवत पर उत्पन्न होता है। परन्तु यह पहले स्वग म था, जिसको एक दिव्य पक्षी इस पवत पर ल आया। इससे यह प्रतीत होता है कि दिव्य होम तथा पार्थिव होम का सम्बन्ध स्थापित करन का प्रयत्न भी यहाँ किया गया है।

४ प्रसव का पौधा

बेबीलोनिया क साहित्य म एक अद्भुत पौधे का उल्लेख मिलता है, जिसको प्रसव का पौधा कहा जाता है। सोम या होम की भाँति इसका सम्बन्ध भी शमश या सूय से है। ऐसा प्रतीत होता है कि पहले यह पौधा भी आकाशीय प्रकाशवृक्ष था जिसक कारण ही सारे देवताओ का जन्म तथा जीवन होता था परन्तु कालान्तर म उस सचमुच एक पौधा समझा जाने लगा।

५ अधस, तथा कथित सोम वृक्ष

कुछ विद्वानो[1] ने पार्थिव सोम के वृक्ष का नाम 'अधस' बतलाया है। परन्तु उनका यह मत पर्याप्त छानबीन का परिणाम नही लगता। वैदिक 'अधस' प्राय ग्रीक अथस (Anthos) का समकक्ष माना गया है[2]। ग्रीक-साहित्य मे इस शब्द का प्रयोग निम्नलिखित[3] अर्थो मे हुआ है—

१ कली या पुष्प।
२ तेज या पुष्प।
३ रूपक मे—जीवन का तेज या पुष्प, वर्ण का ओज, यौवन की दीप्ति।
४ सोने की चमक या प्रभा।
५ रंगीला, चमकीला।
६ सुपर्ण पक्षी।

उक्त अर्थो मे देखने से प्रतीत होता है कि ग्रीक शब्द 'अथस' मे चमक या प्रभा का भाव प्रधान है। यही भाव वैदिक 'अधस' मे भी विद्यमान है। अत दीप्तिमती नदियां अधसी कही जाती हैं। अधस इन्द्र का वज्र है जिसके द्वारा इन्द्र नदी वृत वृत्र को मारता है और बल की परिधि को तोडता है।[4] जैसा आगे इन्द्र के प्रकरण मे बताया जायेगा यह वज्र विद्युत् अथवा सूर्य का प्रकाश ही है। चन्द्र तथा चन्द्र प्रकाश को भी अधस कहा गया है जो देवताओ की वीति (मार्ग या गति) पर चलने वाला है और देवता लोग इन्दु (चन्द्र) मधु के अधसों को खाने वाले हैं।[5] परम व्योम मे उत्पन्न होने वाला तथा वृत्र वध के लिये प्रवाहित होने वाला सोम भी निस्सन्देह सूर्य या विद्युत् का प्रकाश[6] ही है। श्येन द्वारा स्वर्गलोक लाया गया अरुण अधस[7] भी जैसा आगे बतलाया जायेगा कोई पार्थिव पौधा नही हो सकता।

पीला सा रंग तथा चमक होने के कारण पार्थिव, सोम (मधु) के लिये भी अधस का प्रयोग हुआ है। अत इन्द्र को पुष्टि सहित अधस पीने के लिये

---

१ Macdonell Keith Vedic Index p ४७६
२ Henary Geogre Siddell Robert Scott Greek English Lexicon viii ed p १ ८
३ वही
४ ऋ० वे० ७ ६६ २(५)
५ ६ ११ ५, १०, ११ ३
६ ६ ६१ १० १६, २० २३।
७ ६ ६ ८६, १० १४४ तु० क० ५ ६१, ३ ६ ६१, १०।

ध्यानांकित किया जाता है[1]। मैक्डानल तथा कीथ[2] का मत है कि पृष्ठि का अर्थ पहलदार (अठकोना, चौकोना) आदि पौधा है। यथार्थ में मोम के कोष्ठक, जिनके अन्दर में मधु रहता है पहलदार ही होते हैं अतः पृष्ठि सहित सोम का अर्थ होगा मोमकण सहित मधु'। अतएव 'वीतपृष्ठ सोम का भी उल्लेख मिलता है और एक बार सूर्य को ही वीतपृष्ठ हरित कहा गया है[3]। जिस त्वचा में से छन कर या मधु निकलकर बहता है, वह पौधे की छाल नहीं, अपितु मोम की पपड़ी[4] है जिसका कि प्रत्येक कोष्ठक बना रहता है और जिसमें से मधु छन निकल जाता है जैसे कैंचुल से सर्प[5]। यह पपड़ी शब्द कदाचित् 'वप्रि'[6] से निकला है, जो कि वेद में मधु को आवृत रखने वाली उक्त पपड़ी का नाम है। अतः यह वप्रि मधु का शरीर है[7]। उक्त विद्वानों के अनुसार ऋ० ८० ९ ९ १ में पव का अर्थ सोम वृक्ष का तना है परन्तु पव शब्द ग्रीक Poros लटिन Porus तथा अंग्रेजी Pore का समकक्ष है और तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'पव' शब्द भी इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ[8] है। अतः पव शब्द का अर्थ छिद्र या रोमकूप अधिक उपयुक्त जचता है। और उक्त वैदिक मन्त्र से विश्वेभिः सोमपर्वभिः के साथ भी पव का अर्थ तना न होकर मधुकोष्ठों के छिद्र अधिक ठीक है, क्योंकि सभी तना के सहित अंशु का पीना असंगत है—

इन्द्रे हि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः।

अंशु वरण तथा वन शाखा की सोमलता की कोंपलों का नाम[9] मानना भी ठीक प्रतीत नहीं होता। अंशु का अर्थ यदि सोम (मधु) के साथ तो शहद की सुनहरी धार' तथा आध्यात्मिक और भौतिक सोम के प्रसंग में 'प्रकाश किरण' अधिक ठीक बैठता है। अतः किरणों को चन्द्र शुभ्र (दीप्तिमान्) तथा अंशु प्रायः कहा जाता है[10]। इन्द्र द्वारा मुक्त की हुई नदियाँ भी चमकीले जल के

---

१ ४, ७ ४
२ Vedic Index दे० '३०' 'सोम' या अधम
३ ५ ४४ १० तु० क० १, १८, २, ८, ६, ४२
४ ६ ८८ ४४, तु० क० १० १०७, २, १६ २,
५ ६ ८६, ४४
६ तै० ब्रा० ८ ■ १३ १
७ वप्री
८ वैदिक इण्डैक्स
९ ३ ७ १३
१० दे० वैदिक इंडेक्स—मैक्डानल—कीथ

कारण 'अशुमन्या'[1] कही गई हैं। वक्षण का अर्थ 'वक्ष' या पार्श्व है और उनसे निकला हुआ सोम मधु छत्ते से निकला हुआ मधु ही[2] है। वन शब्द का अनेक प्रकार से अर्थ किया गया है[3]। परन्तु इस प्रसंग में इसका अर्थ 'प्रकाश किरण' या मधु का सुनहरा तार ही हो सकता है। अत उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यही प्रतीत होता है कि पार्थिव सोम का कोई पौधा नहीं था और सम्भवत यज्ञों के कर्मकाण्ड में प्रकाश—सोम के वृक्ष का प्रतीक होकर ही कोई पौधा आ गया क्योंकि जैसा पहले देख चुके हैं यज्ञ तो केवल आध्यात्मिक तथा भौतिक यज्ञ का प्रतीक मात्र है। यही कारण है कि सोम के पौधे का कोई वर्णन वैदिक ग्रन्थों में नहीं मिलता और ब्राह्मण ग्रन्थों में उसके स्थान पर अर्जुन (श्वेत) पौधा का विधान किया गया है[4] क्योंकि यही रंग प्रकाश का भी है।

पार्थिव सोम के पौधे का उल्लेख न होने पर सोम पीसने के पत्थरों की कल्पना करना व्यर्थ है। वास्तव में पय साम तो मधु है जिसको उंगलियों तथा हाथों से मलकर निकालने का उल्लेख बार बार मिलता है[5]। अत जो वस्तु हाथों से निकाली जा सकती थी उसके लिए पत्थरों की आवश्यकता ही क्या थी और वे पत्थर भी ऐसे जोर से क्यों चलाये जाते जो सहस्रों तथा सैकड़ों व्यक्तियों के बोलने का सा शब्द करते। प्राय विद्वान् लोग अद्रि पर्वत तथा ग्रावा शब्दों का अर्थ सोम के प्रसंग में साम पीसने वाले[6] पत्थर करते हैं। परन्तु यथार्थ बात यह है कि मधु (शहद) सोम पर्वत पर उत्पन्न होने के कारण प्रकाश सोम (आध्यात्मिक तथा भौतिक) को उत्पन्न करने वाले पर्वतों की भी कल्पना की गई। अतएव 'अद्रिभि सुत'[7] का अर्थ पर्वत से उत्पन्न मधु अथवा बादल आदि से उत्पन्न विद्युत्प्रकाश या दीप्तिवान् जल होगा। इसी प्रकार 'अविभि अद्रिभि सुत' मधु[8] बकरियों तथा पर्वतों से उत्पन्न दूध मधु मिश्रण है, न कि

---

१ ६ ६६ ८, ५ ४३ ४
२ ८ ६६, १६, १३ ४
३ ८ १ १७
४ Hopkins J Hos 17 67 Maxmullar, Bact B E 32 138 of Zimmer Alt L 281
५ प० वि० ब्रा० ६ ५ ३ श० ब्रा० ११ १ ५ ३०
६ ६ ११ ४, २४ ५, २६, ५, ३०, ५, ३२ २, ३८, २ ३१ ६, ५०, ३ ६८ १, ७१, ३, ८६, १३ ७१, ४
७ २, ३६ १।

आमन्त्रित किया जाता है[1]। मकडानल तथा कीथ[2] का मत है कि 'पृष्ठि' का अथ पहलदार (अठकोना, चौकोना) आदि पौधा है। यथाथ म मोम क कोष्ठक जिनके अन्दर म मधु रहता है पहलदार ही होत हैं अत पृष्ठि सहित साम का अथ होगा 'मोमकण सहित मधु'। अतएव वीतपृष्ठ सोम का भी उल्लस मिलता है और एक बार सूय को ही वीतपृष्ठ हरित कहा गया है[3]। जिस त्वचा म स अन्धस या मधु निकलकर बहता है वह पौधे की छाल नहीं, अपितु मोम की पपड़ी[4] है जिसका कि प्रत्यक कोष्ठक बना रहता है और जिसमे स मधु ऐस निकल जाता है जसे कचुल से सप[5]। यह पपरी शब्द कदाचित् वव्रि[6] म निकला है, जो कि वेद म मधु को आवृत रखन वाली उक्त पपरी का नाम है। अत यह वव्रि मधु का शरीर है। उक्त विद्वानों क अनुसार ऋ० य० २ ६ १ म पव का अथ सोम वृक्ष का तना है परन्तु पव[7] शब्द ग्रीक Poros लटिन Porus तथा अंग्रजी Pore का समकक्ष है और तैत्तिरीय ब्राह्मण म 'पर्व' शब्द भी इसी अथ म प्रयुक्त हुआ[8] है। अत पव शब्द का अथ छिद्र या रोमकूप अधिक उपयुक्त जचता है। और उक्त वदिक मन्त्र से विश्वभि सोमपवभि के साथ भी पव का अथ 'तना' न होकर मधुकोष्ठों क छिद्र अधिक ठीक है क्योंकि सभी तनों क सहित अन्धस का पीना असगत है—

इन्द्रो हि मत्स्यन्धसा विश्वेभि सोमपवभि।

अंशु करण तथा वन शब्दों को सामान्यता की कोपलों का नाम[9] मानना भी ठीक प्रतीत नहीं होता। अंशु का अथ पय सोम (मधु) क साथ तो शहद की 'सुनहरी धार' तथा आध्यात्मिक और भौतिक सोम के प्रसग म प्रकाश किरण अधिक ठीक बठता है। अत किरणों का चन्द्र, शुक्र (दीप्तिमान्) तथा अंशु प्राय कहा जाता है[10]। इन्द्र द्वारा मुक्त की हुई नदियाँ भी चमकीले जल क

---

१ ४, ७ ५
२ Vedic Index दे० 'इ०' 'सोम' या अन्धस
३ ५ ४५ १० तु० क० १ ४८, २ ८, ६, ८२
४ ६ ८८ ४४, तु० क० १० १०७, २ १६ २,
५ ६ ८६, ४४
६ तै० ब्रा० ३ ७ १२ १
७ वही
८ वैदिक इण्डेक्स
९ २ ७ १२
१० दे० वैदिक इडेक्स—मैक्डानल—कीथ

६

रसो वैः सः

पवमान सोम के आनन्द की कल्पना रस रूप में भी की गई है, पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड में जो मित्र, अर्यमा, वरुण, मरुत आदि देव हैं वे इसी पवमान के रस[1] को पीते हैं। आनन्द की मिठास को ही लक्ष्य करके, इसे 'मध्व रस'[2] कहा जाता है। यह रस हमारे सभी अंगों में (जिन्हें—वैदिक प्रतीकवाद में अद्रि कहा जाता है) प्राप्य है, चाहे वे अंग हमारे व्यक्तित्व के सूक्ष्म स्तर (परावत्) में हों अथवा स्थूल स्तर (अर्वावत्)[2] में। जब वह सूक्ष्म स्तर पर अंगरूपी अद्रियों से प्रसूत होता है तो यह सूर्य के समान देदीप्यमान होता है और वही स्थूल शरीररूपी कलश में रस की स्थापना[3] करता है। हमारे शरीर[4] में यही पितुरस है जो सूक्ष्म-स्थूल के भेद से अश्व, गो तथा तनु के प्रतीकों द्वारा क्रमशः अश्वरस, गोरस तथा तनुरस कहा जा सकता है। यही पितुरस न केवल हमारे अन्नमय स्थूल शरीर के अंगों में स्थित है, अपितु इसकी स्थिति सूक्ष्म और कारणशरीरों में (जिनको वैदिक प्रतीकवाद में क्रमशः रजस तथा द्यु कहा है) भी मानी[5] गई है, और इसलिये सम्भवतः कारण, सूक्ष्म तथा स्थूल देह के रस को ही क्रमशः अश्व, गो एवं तनु के प्रतीकों से व्यक्त

---

1 रसं ते मित्रो अर्यमा पिबन्ति वरुणः कवे। पवमानस्य मरुतः। (ऋ० ९ ६४ २४)
2 आ नो विश्वेषां रसं मध्वः सिञ्चन्त्वद्रयः।
ये परावति सुन्विरे जनेष्वा ये अर्वावतीन्दवः॥ (ऋ० ८ ५३ ३)
3 सोमो देवो न सूर्योऽद्रिभिः पवते सुतः। दधानः कलशे रसम्। (ऋ० ९ ६३ ३)
4 यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने यो अश्वानां यो गवां यस्तनूनाम्। (ऋ० ७ १०४ १०)
5 ऋ० १८ ७ ४

'कंकरियों तथा पत्थरों से पीसा हुआ सोम का पौधा'। ऋ० वे० १०, ९४ में ग्रावाण की स्तुति है, जिसकी परीक्षा विस्तारपूर्वक की जा चुकी है। ग्रावा प्रायः वेद में आध्यात्मिक या भौतिक प्रकाश सोम के प्रसंग में आता है और उनका अर्थ वही होता है जो कि ऊपर कहा जा चुका है। यदि सोम मन्थन के लिये किसी ग्रावा की आवश्यकता थी तो वह पृथुबुध्न उलूखल[1] की, जिसमें दो जघनों के आकार की अधिषवणी है जहाँ नीचे ऊपर खूब दबा-दबाकर मधु घुमाया जाता है और मथनी (मन्था) से रश्मियों का बाँधा जाता है। यह मथनी लकड़ी की मालूम पड़ती है जो 'वात के समान चमकती है'। उलूखल में निचोड़ने के बाद मधु मथनी से मथा जाता था और कदाचित् बचे हुए सोम को मूसल से भी कूटा जाता हो, जिसमें उसका सारा रस निकल जाय। ऐसा ही कुछ रहा होगा जिससे भारत तथा ईरान दोनों जगहों पर कर्मकाण्ड में उलूखल तथा मूसल को स्थान मिल गया।

परन्तु फिर भी यह कहना ठीक नहीं है कि ऋग्वेद में सोम के पौधे का पीसने का उल्लेख मिलता है। जहाँ तक स्थल पर ऐसा उल्लेख बतलाया जाता है, उसके प्रसंग में, आध्यात्मिक' तथा भौतिक प्रकाश सोम का वृत्त ही स्पष्ट प्रतीत होता है —

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधिश्रितः।
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः।
सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम्॥
सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन।
आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः (?) ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः।
यत् त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः।

अतः, संक्षेप में हम कह सकते हैं कि पय सोम शहद था और आधिभौतिक सोम की कल्पना इसी के आधार पर की गई थी। आधिभौतिक सोम का भूमितत्त्व जल है जिसको ऊपर कृष्ण सोम कहा गया है और उसका द्यु-तत्त्व प्रकाश है जो सूर्य चन्द्र आदि में देखा जाता है।

---

१ ऋ० वे० १ २८ तु० क० हिलब्रा, वे० मै० १ २१६ ३३

नरीर म नाना ग्रचिया म (ग्रचिपु) फैली हुई होने मे ग्रनेक देवजना द्वारा सूक्ष्म नरीर मे ग्रनेक ब्रह्मसवा से युक्त होने पर ग्रनेक वसुग्रा (वमव) द्वारा कारणशरीर म ब्रह्मसव स युक्त होकर विश्वेदेवा की ग्रद्वत देव समष्टि द्वारा तथा तुरीय धाम के उक्त तीनों धामो का सारभूत होने के कारण, उमम एकमात्र जातवेदस द्वारा प्रयुक्त की जाती है। धी द्वारा नोधन या पावन किया जाना हूँ उस समय ग्रभिप्रेत होता है जब सोमरूपी विप्र का[1] धीतिया द्वारा सुनोभित या ग्रलङ्कृत होता हुग्रा कहा जाता है।

इन्द्रियो रस

सोम कई स्थानो पर ऋग्वद[2] म 'इन्द्रियरस' कहा गया है। इन्द्रियरम कह लाने का एकमात्र कारण यही है कि यह इन्दु इन्द्र के लिय (६ ६० ८) है ग्रौर इन्द्र इमका सवप्रथम भोक्ता (३ ४८ १) ग्रथवा इस परिष्कृत रसो' का पूवपा इव (८ १ २६) कहलाता है। 'इन्द्रियरस'[3] के रूप मे सोम मदितम को स्वधाम्रा के ग्रपीच्य' (गुप्त) रत्न को धारण करन वाला यन की ज्योति, देवा का जनक तथा प्रिय मधु है। यही 'इन्द्रिय परमम्' कहा जाता है जो पृथिवी तथा द्यु मे पृथक पृथक ग्रौर ग्रन्तरिक्ष मे दोना का सपृक्त क्तु' होकर रहता है।[4] ग्राध्यात्मिक दृष्टि स पृथिवी ग्रन्तरिक्ष ग्रौर द्यु क्रमश स्थूल, सूक्ष्म ग्रौर कारण शरीर के द्योतक होने पर 'इन्द्रिय परमम्' को निस्सन्देह वही चतुर्थधाम का सोम मानना पडेगा जिसका सम्बन्ध ऊपर 'जातवदस' से बताया गया है ग्रौर तभी ६ ८६ १० म इन्द्रियरस को देवो का जनक कहना भी साथक हो सकता है।

शाश्वत सूय दर्शन—महान् रमणीय दशन

इन्द्रिय रस को ही सभवत 'निवतम रस तथा भेषज वरुय' कहा गया[5]

---

१ शुम्भन्ति विप्र धीतिभि (९ ४० १)
२ ऋ० ६ २३ ५ ६ ८६ १०, ६ ४७ ३, ८ ? ?० तु०क० ६ ६७ ८, ३ ४८ १
३ ज्योतियज्ञस्य पवते मधु प्रिय पिता देवाना जनिता विभूवसु ।
दधाति रत्नं स्वधयोरपीच्य मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रस ॥ (ऋ० ६ ८६ १०)
४ ऋ० १ १०३ ?
५ १० ६ २, ७

किया जाता है। आध्यात्मिक दृष्टि से, शतपथ ब्राह्मण[1] म वर्णित त्रिलोकस्वरूप द्यु, अन्तरिक्ष एव पृथिवी क क्रमश मधु, घृत तथा दधि नामक रस भी यही मान जा सकते हैं और यही तीन लोक सोम क वे तीन धाम हैं जिनका उल्लेख ऊपर हो चुका है। यही सोम द्वारा तीन प्रवतो में स्थापित त्रिविध पीयूष है जिसका सम्बन्ध क्रमश वाणी मनीषा तथा उशती (कामना) स (ऋ ६ ४७ ३) प्रतीत होता है।

धी-रूपी छलनी

यही ऋषि-सभृत रस ऋग्वेद की नवमण्डलीय पावमानी ऋचाओ का विषय है (९ ६८ ३१ ३२) जिसकी अर्चिवती पवित्र (छलनी ६७ २४) अन्त जगत् म अग्नि ब्रह्म की अर्चियो क बीच फली हुई (९ ६७ २३) बताई गई है। इस प्रसग म पवमान सोम को छानने वाली[2] उक्त आन्तरिक छलनी (पवित्र) साम क तीन धामो तक ही सीमित प्रतीत होती है—इनमे स प्रथम म उसके द्वारा अग्नि ब्रह्म हमको (न) पावन करने की क्षमता रखता है (९ ६७ २) दूसरे म अग्नि उस पवित्र (छलनी) के साथ-साथ ब्रह्मसवा (ब्रह्मसव) के द्वारा हम (न) पावन (९ ६७ २४) कर सकता है, तथा तीसरे म सविता देव पवित्र तथा ब्रह्मसव (पवित्रेण सवेन च) दोनो के द्वारा मुझे (मा) चारों ओर स पावन करने की सामर्थ्य (९ ६७ २५) रखने वाला कहा गया है। इन तीनों धामो के वर्षिष्ठ एव दमरूप सभवत एक चतुर्थ धाम भे हैं, जहाँ सविता सोम अग्नि उक्त धामो द्वारा हमको (न) पवित्र करन की क्षमता रखता है—

त्रिभिष्ट्व देव सवितर्वर्षिष्ठ सोम धामभि
अग्न दक्ष पुनीहि न (९ ६७ २६)

इस प्रसग का उपसहार करते हुए उक्त सूक्त के ही अगले मन्त्र म इन्हीं चार धामों की मानो व्याख्या करते हुए बतलाया[3] गया है कि प्रथम मे देवजन गण, दूसरे म वसुगण तीसरे म विश्वेदेवा और चतुर्थ म जातवेदस 'धी' के द्वारा ही पवित्र करते हैं। इससे स्पष्ट है कि आनन्दस्वरूप पवमान सोम जिस छलनी (पवित्र) क माध्यम स पावन किया करता है वह 'धी' है जो स्थूल-

---

१ श ब्रा ७ ५ १ १

२ देखिय ऋ० ९ ६७, २२ २७

३ पुनन्तु मा देवजना पुनन्तु वसवो धिया।
विश्वेदेवा पुनीत मा जातवेद पुनीहि मा॥ ९ ६७ २७

शरीर म नाना अर्चियों म (अर्चिषु) फैली हुई होने से अनेक देवजना द्वारा सूक्ष्म शरीर मे अनेक ब्रह्मसवा से युक्त होन पर अनेक वसुओ (वसव) द्वारा कारणशरीर म ब्रह्मसव से युक्त होकर विश्वदेवा की अद्वैत दव समष्टि द्वारा तथा तुरीय धाम क उक्त तीनो धामों का सारभूत होन क कारण, उसम एकमात्र जातवेदस द्वारा प्रयुक्त की जाती है। धी द्वारा शोधन या पावन किया जाना ही उस समय अभिप्रेत होता है जब सोमरूपी विप्र को[1] धीतियों द्वारा सुशोभित या अलकृत होता हुआ कहा जाता है।

इन्द्रियो रस

सोम कई स्थानों पर ऋग्वद[2] म इन्द्रियरस कहा गया है। इन्द्रियरस कहलान का एकमात्र कारण यही है कि यह इन्दु इन्द्र के लिय (९ ६ ८) है और इन्द्र इसका सवप्रथम भोक्ता (३ ४८ १) अथवा इस 'परिष्कृत रसो' का पूवपा इव (८ १ २६) कहलाता है। 'इन्द्रियरस'[3] क रूप मे सोम मन्तिम' या स्वधामा मे अपीच्य' (गुप्त) रत्न को धारण करन वाला यन की ज्योति त्वा का जनक तथा प्रिय मधु है। यही इन्द्रिय परमम्' कहा जाता है जो पृथिवी तथा द्यु म पृथक पृथक और अन्तरिक्ष मे दोनो का सपृक्त क्तु' होकर रहता है।[4] आध्यात्मिक दृष्टि से पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु क्रमश स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीर के द्योतक होने पर, 'इन्द्रिय परमम्' को निस्सन्देह वही चतुथधाम का नाम मानना पडेगा जिसका सम्बन्ध ऊपर 'जातवदस' म बताया गया है और तभी ९ ८६ १० म इन्द्रियरस को दवों का जनक कहना भी साथक हो सकता है।

शाश्वत सूय दशन—महान् रमणीय दशन

इन्द्रिय रस को ही सभवत 'शिवतम रस तथा भेषज वरुय कहा गया'

---

१ शुम्भन्ति विप्र धीतिभि (९ ४० १)

२ ऋ० ९ ७३ ५ ९ ८६ १० , ९ ४७ ३ ८ ३ २० तु०क० ९ ६७ ८ ३ ४८ १

३ ज्योतिर्यज्ञस्य पवत मधु प्रिय पिता देवाना जनिता विभूवसु ।
दधाति रत्न स्वधयोरपीच्य मदिन्तमो मत्सर इन्द्रियो रस ॥ (ऋ० ९ ८६ १०)

४ ऋ० १ १०३ २

५ १० ९ २ , ७

है। इस शिवतम रस से सम्बद्ध है एक महान् रमणीय दर्शन[1] जो वस्तुत शाश्वत सूय[2] दर्शन ही है। इसकी पुष्टि ऋ० व० ९ ११३ स होती है जहाँ 'इन्द्राय इन्दो परिस्रव' टेक के साथ इसी सोम का विस्तृत वणन है। वहाँ इस सोम का सवन और परिष्करण ऋतवाक, सत्य, श्रद्धा और तप (२ से ४) के द्वारा होता है यह सोम का वह सत्य रूप है जिससे उसकी अनक रसधाराएँ बहती है और जिसम पुन वे रसधाराएँ ब्रह्म के द्वारा पवित्र होकर एकत्र होती हैं (५), इसी सोम से आनन्द उत्पन्न होता है (६) और इसी के अमृत लोक मे अजस्र ज्योति का निवास है एव 'स्व' छिपा हुआ है (७)।

स्वपति इन्द्र और सोम

ऊपर जिसको शाश्वत सूय दशन अथवा महान् रमणीय दशन कहा है वह यज्ञ की भाँति सवत्र स्व स सम्बद्ध[3] है और इस स्व का पति[4] या तो इन्द्र या इन्द्र सोम दोनो कहे गये[5] हैं। सायण न 'स्व' शब्द का अथ प्राय सूय किया है, परन्तु स्व निश्चित रूप म सूय से भिन्न[6] द्यावापृथिवी स परे एक बृहद ज्योति (३,३४,४) का बृहद द्यौ है जिसको उरलोक उरु उ लोक अथवा उ लोक कहा जाता है जहाँ महान् रमणीयता के अथ ज्योति (अविन्दत् ज्योतिर्बृहते रणाय)[7] अथवा स्व ज्योति प्राप्त होती है जो अभय स्वस्ति कहलाती[8] है। अत श्री अरविन्द न इन्द्र एव सोम मे सम्बन्धित इस 'स्व' को ठीक ही 'मन स परे स्थित सत्य एव अमर सौन्दय का एक अतिमानस स्वग लोक' माना है और इस लोक की सारभूत तात्त्विक सत्ता स्वरूप जो ज्योति है उसे सत्य की ज्योति कहा[9] है। श्री अरविन्द के शब्दो म यह एक ऐसा स्वग है जिसे एक प्रकार के अन्धकार न हमारी दृष्टि से छिपा रक्खा है इसको खोजकर प्राप्त करने तथा दृष्टिगोचर बनान की आवश्यकता होती है, और इसकी प्राप्ति और दशन

---

१ महे रणाय चक्षसे १० ९ १
२ ज्योक् च सूय दृशे (१० ९ ७)
३ द्रष्टव्य ऊपर 'वैदिक मार्ग', ऋ० वे० १० २,२६ ३४
४ ऋ० वे० ८ ९७ ११
५ ऋ० वे० ९ ८६ २
६ ऋ० ६ ७२ १ ६ ८६ ४ अरविन्द 'आन दी वेद' पृ १७१
७ ऋ० वे० ३ ३४ ४
८ ऋ० वे० ६ ५७ ८
९ श्री अरविन्द 'आन दी वेद', पृ० १७३

निभर करता है उषा के जम पर, सूय के उदय पर तथा गुहा मे छिपी सूय की गाया के छूट भागने पर । यन म सफलता प्राप्त करने वाले आत्मा स्वद्गा एव स्वविद, स्व को देखने वाले तथा स्व को पाने वाले हो जाते हैं, क्योकि विद धातु का अथ है पाना और जानना और एक दो स्थानो पर तो विद धातु के स्थान पर तो स्पष्टत 'ना धातु का प्रयोग किया गया है और ज्योति को अधकार म से जानन की बात कही गई है।

ज्ञानशक्ति और इन्द्रिय-रस सोम

अत कोई आश्चय नही कि अज्ञान के प्रतीक वृत्र अहि का वध किय जान पर अधकार स निकलकर अग्नि, सूय एव इन्द्रिय रस सोम देदीप्यमान होते हुए बताये गय है —

निरग्नयो रुरुचुनिरु सूर्यो नि सोम इन्द्रियोरस
निरन्तरिक्षादधमो महामहि कृष तदिन्द्र पौस्यम ।

यह सब परिणाम है इन्द्र के महान् पौस्य—अहि अथवा वृत्र के वध का, जिसका वणन इसी प्रकार वेद मे बहुत मिलता है । अत इन्द्रिय रस सोम का आविष्कार वस्तुत ज्ञानशक्ति द्वारा अज्ञान के विनाश पर अवलम्बित है और इस ज्ञानशक्ति का प्रतीक होता है इन्द्र । इसकी पुष्टि ऐतरेय उपनिषद के एक रूपक से होती है जिसम इन्द्रियो की ज्ञानशक्ति का मूल इन्द्र को बतलाया गया है । यथाथ म इन्द्रिय का अथ ही है इन्द्र सम्बन्धी या इन्द्र का । यहाँ सक्षप मे उपनिषद का रूपक दिया जाता है—आत्मा न पुरुष को बनाया । उसमे चक्षु श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ स्थापित की । फिर उसने सोचा कि 'मेरे बिना तो यह सब व्यथ है।" परन्तु प्रवश किस द्वार स करे ? चक्षु आदि मे से वह कोई एक इन्द्रियमात्र तो था नही वह तो सबका चालक था । अत वह सिर की विदृति (छिद्र ब्रह्मरन्ध्र) के द्वारा घुस गया । उसके तीन निवास स्थान (कारण सूक्ष्म तथा स्थूल शरीर) तथा तीन स्वप्न (सुषुप्ति, स्वप्न जागृति) है ।'

इसस स्पष्ट है कि इन्द्रियो का सचालक इन्द्र माना जाता है और यह इन्द्र आत्मा का वह रूप है जो तुरीयावस्था और आनन्दमय कोश को छोडकर तीनों शरीरो तथा तथा तीनों अवस्थाओ म पाया जाता है । अतएव मनोमय कोश तथा विज्ञानमय कोश क समस्त ज्ञान विज्ञान मेधा मनीषा, सकल्प प्रज्ञान आदि को ब्रह्म इन्द्र प्रजापति या मनीषा बताया गया है —

---

१ ऐ उ ३ २

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे कतर स आत्मा ? येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गधानाजिघ्रति येन वा वाच्य व्याकरोति येन वा स्वादुचा स्वादु च विजानाति यदतद हृदय मनश्चतत् सज्ञानमाज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा दृष्टिधृतिमनीषा जूति स्मृति सकल्प क्रतुरसु कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति । एष ब्रह्म एष इन्द्र एष प्रजापति ।

अत इन्द्र यथाथत ज्ञान प्रक्रिया का प्रतीक है और ज्ञान प्रक्रिया वस्तुत एक प्रकाशन प्रक्रिया है । जब हम कहते हैं कि हमने अमुक वस्तु जान ली तो इसका अथ यही होता है कि वह वस्तु पहले हमारे लिये छिपी थी अधकार म थी और अब वह प्रकाश म आ गई । जिस प्रकार हमे बाह्य शब्द, रूप आदि प्रकाशित हो जाते हैं उसी प्रकार हम इनके पूवगृहीत चित्र या उनके आधार पर बन हुए विचार आदि भी प्रकाशित होते कहे जा सकते हैं । ज्ञान के इस प्रकाशन के लिये संस्कृत म चित शब्द का प्रयोग होता है । अत ज्ञानशक्ति को चित् या चेतस भी कहते हैं । चित् का प्रयोग चेति[1] अचेति आदि रूप म विभिन्न प्रकाश देवो के साथ ऋग्वेद म मिलता है और इन्द्र की एक प्रसिद्ध चेत्या का भी उल्लेख मिलता है जिसके द्वारा वह अधकार की शक्तियो का भेदन करता प्रतीत होता है क्योकि वही तो वसुओं, रुद्रों तथा आदित्यो द्वारा बनाया हुआ उग्र चेता अधिराज[3] है यद्यपि मित्र, अयमा वरुण आदि सभी अदितिपुत्र अनत के चेत्ता और प्रचेतस का भी चेतन करने वाले (ऋ० ७ ६० ५ ६) कहे गये हैं और हिरण्यपाणि सविता भी एक स्थान पर चेता[4] कहा गया है । इन्द्र की इन्द्रियम् के साथ चित् के अतिरिक्त दृश या विद धातु का प्रयोग भी ज्ञानाथ म ही हुआ है ।

अत इन्द्रियरस सोम को चित् शक्ति या ज्ञानशक्ति से सम्पृक्त आनन्द या चिदानन्द कहना उचित होगा । इसीलिये जिन द्यावापृथिवी (स्थूल-सूक्ष्म) से महिमान इन्द्रिय करने वाले और सोमपायी इन्द्र के वधन के हेतु शुष्म रक्षा के लिए प्रार्थना की गई है उनके लिये सचेतसा विशेषण प्रयुक्त हुआ[5] (१० ८६ १४)

१ ऋ० १ ६३ ४ ६२,१२ ११६,४ आदि
२ कुई न्विद् स्य इन्द्र चेत्या सदधस्य यद्भिनदो रक्ष एषत् ।
३ ऋ० १० १२८ ६
४ ऋ० २ २२ ५
५ ऋ० ६ ७० ३ ४
तनस्य द्यावापृथिवी सचेतसा विशोभिर्न्दैवरनु शुष्मावताम् ।
यन्द्र कृण्वानो महिमानमिन्द्रय पीत्वी सोमस्य क्रतुमान् अवधन ॥ (ऋ १०,११३ २)

है क्योंकि वही तो 'मधुज ह्स' वचयमाण इन्द्र तथा ज्येष्ठ इन्द्रिय है जिसको कवि लोग मनीषा के माध्यम से पहिचान[1] पाते हैं और यही वह मदितम मत्सर 'इन्द्रियरस है जो ज्ञान रूपी अपीच्य रत्न को धारण करने वाला मनुष्यो द्वारा अपने भीतर अन्तर्हित किया गया मनस्पति अमर्त्य वृत्रहा तथा सूर्य एव सभी धामो को प्रकाशित करनेवाला विश्ववेत्ता सोम है (९ २८, १ ६)। इसी सोम को अन्यत्र फिर (९ २७ २ ५) स्वर्जित् विश्ववित् हिरण्ययु पवमान कहा जाता है जिसे अदिति की गोद मे (९ २६ १ ३) विप्र लोग सूक्ष्म धी अथवा मेधा द्वारा निकालते है। परावत लोक मे मनि द्वारा सेवित एव धी द्वारा स्थापित जो सोम देवो मे जागरूक कहा जाता है (९ ४४,२ ३) वह भी उक्त चिदानन्द का प्रतीक भूत इन्द्रिय रस ही माना जा सकता है। चेतस मति, मन चित्ति, धी अण्वी धी धीति आदि अनेक ज्ञानपरक शब्दो के सन्दर्भ मे प्रयुक्त[2] सोम शब्द भी निस्सदेह इसी इन्द्रियरस का द्योतक है और यही बात उस सोम के लिये कही जा सकती है जो मनश्चित् एव मनस्पति है और इन्द्र के पानाय तथा मादनाय परिविच्यित होता हुआ (९ ११ ८) बतलाया गया है अथवा जिसको विप्र कवि विपश्चित विचक्षण विप्र वीर आदि अनेक मेधाविनाम[3] दिये गये हैं। एक रूप मे वह एक सूक्ष्म बुद्धि (अण्व्या धिया) के द्वारा चलता है परन्तु दूसरे रूप मे वह अनेक बुद्धियो के समान आचरण करता है एक परावत से सम्बन्ध रखता है दूसरा अर्वावत से—

> एष धिया यात्यण्व्या शूरो रथेभिराशुभि गच्छन्निन्द्रस्य निष्कृतम्
> एष पुरु धियायते बृहते देवतातये। यत्रामृतास आसते
> (९, १५ १ २)

हृत्व्योरस

उक्त ज्ञानाश्रयी सोम (जिसको इन्द्रियरस कहा गया है) के अतिरिक्त एक क्रियाश्रयी सोम की कल्पना भी है जिसको ऋग्वेद मे अनेक स्थानो पर (९, ७६ १, ७७ ५, ८४ ५) 'कृत्व्य रस' कहा गया है। सायणाचार्य ने कृत्व्य

---

१ ऋ० वे० १० ११३
२ ९, १६, ४, १५ १, ८, २०, ३ ९, ४२, १ आदि
३ ९, ४४, २, ५, २७, १, २६, १ ६ ९ २०, ३, १८, २ इत्यादि

का अर्थ एक दो स्थानों पर कर्तव्य[1], परन्तु प्राय कर्मण्य[1] किया है। निस्सन्देह यह शब्द क्रियाशीलता का द्योतक है और इसका प्रयोग साम के अतिरिक्त मुख्यत अग्नि के लिए हुआ है। अग्नि घोडे के समान कृत्य (ऋ० ६ २, ८) है और जिस ऋभु के साथ कृत्यमद का जो विशेष सम्बन्ध (ऋ० १० १४४ २) प्रतीत होता है वह भी वस्तुत अग्नि का दौत्य पाकर ही कृत्वी हुआ है—

> अग्नि दूत प्रति यदब्रवीतनाश्व कर्त्वो रथ उतेह कर्त्व ।
> धेनु कर्त्वा युवशा कर्त्वा द्वा तानि भ्रातरनु व कृत्व्येमसि ॥
> (ऋ० १ १६१ ३)

जिस प्रकार ऋभु अग्नि का अनुकरण करके कृत्वी बनता है उसी प्रकार हवि के माध्यम से कृत्वी होने वाला इन्द्र[2] भी अग्नि के संयोग से ही क्रियाशील होता माना जायगा। अन्यथा कृत्वी होना अग्नि की ही मौलिक विशेषता[3] है, क्योंकि कृत्वी शब्द का आधारभूत कृत्व[4] एकमात्र अग्नि से ही ऋग्वेद में सम्बन्धित है। इसमें कोई आश्चर्य भी नहीं क्योंकि कृत्व या क्रियाशीलता बल के बिना सम्भव नहीं और बल का पुत्र (सहसस्पुत्र सहसानपात) होने का सौभाग्य अग्निदेव[5] को ही प्राप्त हुआ है —

त्वद्धि पुत्र सहसो वि पूर्वीर्देवस्य यन्त्यूतयो वि वाजा (ऋ० ३ १४ ६)

अत कृत्व्यरस नामक सोम का नाम अग्नि की क्रियाशीलता के कारण ही पडा प्रतीत होता है। इसीलिए कृत्व्य रस को द्यु का धारक देवों का बल सत्व में अन्न के समान तथा इन्द्र के भी बल को प्रेरित करने वाला इन्दु[6] कहा गया है। कृत्व्यरस के लिए धर्त्रि शब्द प्रयुक्त हुआ है जिसका अर्थ सायण के अनुसार सर्वस्यकर्ता[7] है। अन्यत्र (६ ८४) भी साम को कृत्व्यरस कहा है तो उसे सम्पूर्ण भुवनों को स्थापित करने वाला उनमें सर्वत्र विचरण करने वाला, संश्लेषण करने वाला तथा विश्लेषण करने वाला सहस्रजित् धनंजय तथा वायु द्वारा समुद्र को उद्वेलित करने वाला कहा गया है। अग्नि के संयोग से ही साम

---

१ ऋ० ६ ७६ १
२ ऋ० १० १४४ ३ १०, १७४, ४
३ ऋ० १० १४ १२
४ ऋ० ३, १८ ४, ५४ १
५ ऋ० ३ १८, ४ १४, ८ १६ ७ १८ ४ ७१, ५ ७८ ५ इत्यादि
६ ऋ० ६ ७६, १ ०
७ ऋ० ६ ७७ ५

में क्रियाशीलता आने का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि अग्निषोमौ नामक संयुक्त देवता के सूक्त (ऋ० १ ९३) में पणियों से गायों को मुक्त कराने, वृत्र का वध करने, बहुतों के लिए एक ज्योति को पाने, द्युलोक में ज्योतियों की स्थापना तथा सिन्धुओं की मुक्ति में प्रयुक्त होने वाला बल जो अन्यत्र इन्द्र का बतलाया जाता है वह वस्तुतः इन्हीं दोनों का संयुक्त रूप है परन्तु फिर भी इस संयुक्त देवता के इस बल का भी मूल स्रोत वही अग्नि मानना पड़ेगा जो यथार्थतः कृत्वी है और जिसको इसीलिये 'दस्माणां दक्षपतिः'[1] कहा जाता है। अतः इसे रस का क्रियानन्द कहना अनुचित न होगा।

अग्नि और सत्

अग्नि के दक्षपतित्व का रहस्य सम्भवतः दक्षजन्म के प्रसंग में अग्नि के 'प्रथमजा ऋतस्य' होने में है। ऋ० वे० १० ५ ७ में कहा गया है कि अग्नि के उपस्थ में दक्ष का जब जन्म हुआ, तो परम व्योम में असत् और सत् दोनों थे, और अग्नि ही 'प्रथमजा ऋतस्य' था। ऋ० वे० १० ७२ के अनुसार भी देवों के जन्म के पूर्व युग में असत् से उत्पन्न होने वाला सत् ही सम्भवतः प्रथमजा ऋतस्य अग्नि है। ऋ० वे० ३ १७ में अग्नि की द्विविध सत्ता बताई गई है एक में वह स्वधा में स्थित है और दूसरी में वह तीन आयुओं तीन उषाओं द्वारा देवयजन करके शम्भु बनता है। यहाँ स्वधा में स्थित होने का अभिप्राय सम्भवतः उसके स्वयम्भू रूप से है जिसकी तुलना ऋ० वे० १० १२९ २ के 'स्वधयातदेकं' से की जा सकती है जो सम्भवतः हृदय के भीतर असत् में स्थित वह सत् का बन्धु भी है जिसको कवि लोग मनीषा[2] द्वारा प्राप्त करते हैं। वस्तुतः यह एक रश्मि[3] है जो नीचे ऊपर सर्वत्र फैली हुई है, इसके दो रूप हैं—एक में स्वधा है दूसरे में प्रयति, एक में रेतोधा, दूसरे में महिमा। अग्नि के इन दो रूपों को क्रमशः पूर्व[4] और नव्य[5] भी कहा जाता है जिनको लक्ष्य करके ऋग्वेद के प्रथम सूक्त में ही अग्नि को पूर्व और नूतन ऋषियों का ईड्य कहा गया है। पूर्व रूप सत् है जिससे नव्य (होता या यजनकर्ता) क्रिया

---

१ ऋ० १ ९४ ६

२ सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा (ऋ० १० १२९ ४)

३ तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन् स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात् (ऋ० १० १२९ ५)

४ ऋ० १० ५ ७ ३ १७ ५

५ ऋ० १ १०५ १२

शील रूप उत्पन्न होता है—

अग्ने तव त्यदुक्थ्य देवेष्वस्त्याप्यम् (१ १०५ १३)

स न सत्तो मनुष्वदा देवान् यक्षि विदुष्टर ॥

अत सोम के सम्पक स जहाँ अग्नि के दूसरे रूप म त्रियानन्द देखा जा सकता है वहाँ प्रथम रूप मे उसको सदानन्द कह सकते हैं।

सोम्यरस

जिस प्रकार इन्दु और अग्नि के सम्बन्ध स सोम को ऊपर इन्द्रिय रस एव कृत्यरस की सज्ञा मिली उसी प्रकार इन्द्र तथा अग्नि से पृथक शुद्ध सोम की दृष्टि से उस सोम्यरस भी कहा गया है। सोम्यरस के भी पूव और नूतन दो भेद माने गये हैं। पूर्व सोम्यरस सवश्रेष्ठ[1] (वसुद्द) है, इसी को त्य पूर्व्य मद भी कहा गया[2] है जो त्य मद्य मद[3] भी कहला सकता है। पवमान सोम अपने इसी रूप म स्व ज्योति प्रदान कर सकता है, सूय के शाश्वत दशन करा सकता है।[4] अपने नव्य रूप म सोम्यरस प्रेरणा पाकर मधुश्चुत पवमान बनता है और प्रत्येक गति (यामनियामनि) के साथ अनेक कामनाओं (कन्यासु) के रूप म इसका भक्षण (आस्वादन) किया जा सकता है (९ ६७ ९ १२)। यह सोम्य मधु एव और अदिति का ऋत (९ ७४ ३) अथवा ऋत का गभ (९ ६८ ५) है एव स्वधा द्वारा प्राप्तपद से सम्बधित है (९ ६८ ४), दूसरी ओर यह दक्ष मन द्वारा (दक्षेण मनसा[5]) कवि रूप म जन्म लेता है और अनन्त धाराओं अथवा प्रजाओं स सम्बन्ध रखने वाला कहा जा सकता है (९ ७४ ६)।

सोम का यह पहला रूप परावत म है और दूसरा अर्वावत मे जहाँ सम्भवत वह परावत से श्येन द्वारा ले आया जाता है जिसके फलस्वरूप यह सोम्य मधु सहस्रा सवना म परिणत हो जाता है।[6] इन दोनो म से पूव सोम्यरस का राजा स्वय इन्द्र है (६ २० ३ ६ ३७ २) जो उसको सवप्रथम पीता है

---

१ ऋ० ९ ६७ ८
२ ऋ० ९ ६ ३
३ ऋ० ९ ६ २
४ ऋ० ९, ४, २ ६ १, १०५ १५
५ ऋ० ९ ६८ ५
६ ऋ० ८, ५३, ३ ९ ६८ ६ ४ २६ ४ ७, २७, २ १

(३, ४८ १, ६, ३७ २, ८ ११, ४)।

सच्चिदानन्दरस

इससे प्रकट है कि सोम्यरस के पूर्व रूप को शुद्ध आनन्द कहा जा सकता है जिसको पीकर ही इन्द्र भी शुद्ध सोम्य (८ ६५ ८) होकर वृत्र का वध करता है, शुद्ध रयि धारण करता है (८ ६५ ८ ९) तथा सभी कुछ शुद्ध ही करता है। निस्सदेह इस पूज्य सोमरस से सम्बन्धित इन्द्र का यही पूर्वरूप है जिसे इन्द्रिय रस के प्रसग मे चित कहा है और इसी से अग्नि के सत' नामक पूर्वरूप का सम्बन्ध माना जा सकता है। अतएव तीनो के उक्त पूर्वरूप का सत चित एव आनन्द का सयुक्त रूप कहा जा सकता है जो पूर्ववर्ती साहित्य मे सच्चिदानन्द ब्रह्म की कल्पना का आधार रहा होगा। इस रूप मे अग्नि इन्द्र और सोम परस्पर सपृक्त रूप मे पूज्य ऋत (१ १०५ ४) के द्योतक हैं जब कि दूसरे रूप म पृथक पृथक और नाना देवा म विभक्त होकर ऋत को नव्य रूप (१, १०५ ४) प्रदान करते हैं।

ऋ० वे० १० ७२ मे देवसृष्टि के दो युगो की कल्पना मिलती है—पूर्य या प्रथम युग मे असत से सत का जन्म होता है और अदिति से अनेक देवो या आदित्यो की उत्पत्ति सम्भवत उत्तर अथवा नव्य युग की बात है। पूर्व सृष्टि स्वपिति नामक विज्ञानमय पुरुष की अवस्था है जिसस सारे प्राण सारे देव, सारे लोक तथा सारे भूत उसी प्रकार निकलते हैं जिस प्रकार मकडे म जाला तथा अग्नि से चिनगारियाँ निकलती हैं—

स यथोर्णनाभिस्तन्तुनोच्चरेत् यथाग्ने क्षुद्रा विस्फुलिगा व्युच्चरन्त्येवमेवा स्मादात्मन सर्वे प्राणा सर्वे लोका सर्वे देवा सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति (ब० उ० २, १ २०)

श्येन, सोम तथा इन्द्र

पिण्डाण्ड का विज्ञानमय पुरुष मनोमय प्राणमय तथा अन्नमय का बीज या गर्भ है और वही मानो विकसित होकर मनोमय से लेकर अन्नमय तक की सारी शक्तियो म अभिव्यक्त होता है। इसी विज्ञानमय पुरुष को देवमन का जन्मस्थान कहा गया है जिसको कवि ही जानता है। मन प्राण, चक्षु श्रोत्र आदि की शक्तियाँ ही 'विश्वदेवा हैं जो उक्त विज्ञानमयरूपी वामन की उपासना करते हुए कहे जाते हैं (क० उ० २,२,३) और सभवत यही वाम[1] और उसक

१ ऋ० १, १६४, १

अन्य दो भ्राताओ (अग्नि एव इन्द्र ?) अथवा केवल वामदेव[1] की गर्भावस्था है जो वरुण रुद्र, पर्जन्य यम ईशान, वसु आदित्य, पूषा आदि देवों के रूप म उत्पन्न होता हुआ कहा जाता है। अत विज्ञानमयकोश का उक्त सच्चिदानन्द स्वरूप ही अग्नि सोम तथा इन्द्र और अन्य आदित्यो का उद्गम स्थान है जिसे इन्द्र वामदेव या देवो की गर्भावस्था भी कहा जाता है। यही कारण है कि अग्नि सोम तथा इन्द्र का जन्म प्राय एक साथ-सा वेदो मे मिलता है। इसका सबसे सुन्दर उदाहरण ऋ० वे० ४,२७ और ४,२६ मे देखा जा सकता है। यद्यपि इन दोनो सूक्तो के 'अह रूप म बोलने वाले के विषय मे अनेक[2] मत हैं परन्तु यदि अग्नि इन्द्र और सोम के उपयुक्त सबन्ध को स्वीकार कर लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि गर्भावस्था मे तीनो एक ही विज्ञानमय की उस सच्चिदानन्द इकाई म सपृक्त होते हैं जिसको ऐ० आ०, ऐ० उ० तथा बृ० उ० के अनुसार वामदेव आत्मा या ब्रह्म कहा जा सकता है और जो पुन त्रिविध रूप म व्याकृत होकर कृत्य, इद्रिय तथा सोम्य होकर मनोमय म लकर अन्नमय तक की नानारूपात्मक सृष्टि मे प्रकट होता हुआ अनेक कर्मो और धर्मो सकल्प विकल्पो और विचारो, तथा सचारियो, व्यभिचारियो एव स्थायी भावो का रूप[3] धारण करता है। सपृक्त अवस्था ही परावत्' अथवा इन्द्रावत् बृहत (४ २६ ६ ७ ४) है जहाँ से स्वाधा द्वारा देवजुष्ट सोम्य मधु मन्द्र, मद सोम मधु को श्यन या सुपर्ण (अग्नि) इन्द्र या मनु के हेतु (४,२६,४ ५ ७ ४ ५) इतनी अधिक मात्रा मे (पुरधी) लाता है कि अर्वावत् (मनोमय) मे वह सहस्रो और अयुतो सवना (सचारियो भावो) के लिये पर्याप्त हो सकता है।

रस, काम और इच्छाशक्ति

अत यह कहना अनुचित न होगा कि विज्ञानमय की उक्त सच्चिदानन्द इकाई ही आनन्दमय म परिणत हो जाती है। इस दृष्टि से तैत्तिरीय उपनिषद्[4] के शब्दो म कहा जा सकता है कि 'वह आत्मा रस ही है। इसी रस को प्राप्त करके व्यक्ति आनन्दित होता है। यदि यह आनन्दाकाश न हो तो कौन जीवित रहे और कौन प्राणन करे। यही सब को आनन्दित करता है।' यह

1 बृ० उ० १ ४, १० ११, ऐ० उ० २,५, ऋ० वे० २६ २८।
2 वै० द०, पृ० १४३ १४४।
3 वै० द० पृ० १४४-१४८।
4 तै० उ० २,७।

आत्मा ही वह यक्ष है जो शरीर रूपी अष्टचक्रा नवद्वारा अयोध्यापुरी के भीतर ज्योतिमण्डित हिरण्मयकोश म विराजमान बताया जाता[1] है और जो हमारे शरीर का समस्त हृदयतत्त्व एव मूर्धातत्त्व अनुस्यूत करके स्वय उसे शीर्षस्थानीय मस्तिष्क से सचालित[2] करता है। यह हृदयतत्त्व ही वस्तुत हृदय की सवेदनशक्ति है जिसके द्वारा हम शृगारादि रस, रति आदि भाव तथा व्यभिचारी और सात्त्विक नाम के अस्थायी भावो का अनुभव करते हैं। इसी शक्ति के द्वारा हमे प्रिय या अप्रिय, मन के अनुकूल या मन के प्रतिकूल, सुन्दर या असुन्दर की पहचान होती है। उक्त दोनो प्रकार की अनुभूति के साथ एक ध्वनि जुडी हुई है और वह है 'इ' जो हमारी नाक से उच्छवास के साथ निकल पडती है। अत इ को सस्कृत म प्रिय तथा अप्रिय दोनों का सूचक समझा जाता है और वह कामदेव का नाम है क्योंकि उक्त सभी अनुभूतिया को काम के अन्तगत ही माना जा सकता है। इस इ के भी दो रूप हैं—एक तो हमारी विविध इन्द्रियो द्वारा स्थूल रूप रस आदि के आस्वदन म प्रिय अप्रिय का अनुभव करने वाला, तथा दूसरा सूक्ष्म विचारो, कल्पनाओं आदि म उसी अनुभूति को प्राप्त करने वाला। पहले को स्थूल काम तथा दूसरे को सूक्ष्म काम कहा जा सकता है। इन दोनो अवस्थाओ म काम 'मनोभव' (मन मे उत्पन्न होने वाला) है और यथाथ म एक है। इसका व्यापार मनोमय से अन्नमय तक ही सीमित है परन्तु इसका पूवरूप एक दूसरा 'काम' है जिसे मन का भी बीज कहा[3] गया है। यह सूक्ष्मातिसूक्ष्म 'काम विज्ञानमय की वस्तु है और सच्चिदानन्द के आनन्द अश का ही स्वरूप है, अत इसका प्राज्ञान, सज्ञान, आज्ञान आदि के साथ साथ काम भी एक नाम[4] है। यही अद्वैत अनुभूति रस नाम से कही जाती है, यह केवल प्रियता मात्र होने से ब्रह्मानन्द सहोदर कहलाने योग्य है। इसी को लक्ष्य करके साहित्य दपणकार ने लिखा है—

सत्वोद्रेकादखण्डस्य प्रकाशानन्दचिन्मय ।
वेद्यान्तरस्पशशून्यो ब्रह्मानन्द सहोदर ।

इसी काम अथवा इ की शक्ति इच्छा (इ =काम, छा=वच्ची) शक्ति है जो मनोमय स लेकर अन्नमय तक विविध रसों भावो, सचारियो आदि के रूप म प्रकट होती है।

1 ऋ० वे० १० २,३१ ३२।
2 ऋ० वे० १० २, २६।
3 कामस्तदग्रे समवतत मनसो रेत प्रथम यदासीत् (ऋ० वे० १६ १,२)।
4 ए० उ० ३,२,।

अन्न और रस

उक्त अनेकरूप रसों का सबध अन्न से है। वदिक वाङमय मे अन्न केवल साधारण भोजन का ही नाम नही है। बृहदारण्यक उपनिषद[1] मे मन, वाक और प्राण को भी आत्मा का अन्न कहा गया है। ऋग्वेदीय अन्नसूक्त (१ १८७) म अन्न को महान् धम महान् बल बताया गया है (१) जिसके ओज द्वारा ही, मनोमय (द्यु) प्राणमय (अन्तरिक्ष) तथा अन्नमय (पृथिवी) के त्रिलोक मे रहने से त्रित कहलानवाला इद्र वृत्र को पवहीन कर डालता है। हमारे भीतर प्राणमय म प्राण शक्तियाँ (रजासि) का आश्रय लेकर तथा मनोमय (द्यु) म मानसिक शक्तियो का आश्रय लेकर उक्त रस (जो अन्यत्र सोमास इन्दव आदि कहे जाते हैं) विविध रसो के रूप मे स्थित होता है (४) और इन रसो का अपने भीतर (आध्यात्मिक) आस्वादन करनवाले ही (स्वाद्मानो रसाना) सम्मानपूवक गदन सीधी रखकर चल सकते (५) है क्योकि इन्ही लोगो का अन्न म छिपा देवमन (६) 'चारु होकर तथा अहि (वृत्र) के वध मे सहायक होकर उसके फलस्वरूप (७) भौतिक अन्न का भी मधुमय पवतो से प्रकट हुए माधुय के एव भक्षणीय बना देता है। वस्तुत तभी आप ओषधियो (वनस्पतियो) गवाशिरो (गो दुग्ध आदि स युक्त) अथवा यवाशिरो (यव आदि अनाज से युक्त) आदि रूपो म अन्न शरीर को मोटा (८ १०) बना सकता है और तभी मनुष्य देवा क साथ सहभोज (सधमाद) म सम्मिलित होने के योग्य (११) हो सकता है। परन्तु प्रश्न होता है कि इस अन्न का रस द्वारा देवो का सध मादन कसे बनाया जाता है।

सोमरस, सवन और सधमादन

उक्त अन्न क सन्दभ म रस वस्तुत हमारे साधारण भौतिक अस्तित्व की अनुभूति है। अरविन्द के शब्दो म हमारा साधारण जीवन तथा अस्तित्व एक नक्षत्रमण्डित रजनी है। उषा एक अधकारमयी अथवा अधिक-से अधिक एक नक्षत्रमण्डित रजनी है। उषा का आगमन परम सत्य रूपी सूय क उदय से होता है और उषा क साथ ही अत्रिय यज्ञ प्रारम्भ हो जाता है। यज्ञ के द्वारा स्वय उषा तथा खोया हुआ सूय पलायन करती हुई रात से निरन्तर मुक्त कराया जाता है और ज्योतिमयी गायों को पणियो की अधेरी गुफा से छुडाया जाता है। यज्ञ द्वारा ही हमारे स्वर्गीय पुरधि (आप) की वृष्टि हमारे लिए फूट पडती है और हमारे उच्चतर

---

१ बृ० उ० १ ५ ।

अन्तरिक्ष से सप्तसिंधु निकलकर हमारे भौतिक अन्नमय जीवन में उफ्नाते हुए बहने लगते हैं, क्योंकि मनोमय देव इन्द्र के वज्र द्वारा आवरक अहि सर्वग्राही एवं सर्वावरोधक वृत्र के आवरणों को नष्ट भ्रष्ट कर दिया जाता है। यज्ञ में सोम का 'सवन' होता है और उसी अभिषुत सोमरस की आनन्द धारा के सहारे हम उच्चतम स्वर्ग तक ले जाया जाता है।

सवन या सोमयज्ञ

अतः वैदिक निघण्टु में 'सवन' शब्द भी यज्ञ नामों में गिनाया गया है और ऋग्वेद में ६० से अधिक बार प्रयुक्त इस शब्द का अर्थ सायण ने प्रायः यज्ञ ही किया है। परन्तु वेद में 'सवन' एक श्लिष्ट पद है जिसके द्वारा सोम के रस को निकालने की क्रिया के साथ-साथ प्रसव क्रिया भी अभिप्रेत है। सवितृ सूक्त[2] में सवन के साथ ही सवीमनि, प्रसव आदि पर्यायवाची शब्दों के प्रयोग से संकेत मिलता है कि जिस सवन के लिए सविता ने अपने बाहुओं को उठाया है वह प्रसव है। वस्तुतः आनन्दमय अथवा हिरण्ययकोश का जो प्रकाशात्मा देव है वह विज्ञानमय कोश में अग्नि, इन्द्र तथा सोम की एक अव्याकृत इकाई होकर मनोमय से लेकर अन्नमय तक अनेक देवों की सृष्टि में परिणत हो जाता है—यही सविता का सवन या प्रसव है। एक देव का अनेक देवों या देवकर्मों में वितत होने से यही 'देवताति'[3] (यज्ञ) है। आनन्दमय के ज्येष्ठ ब्रह्म का ही विस्तार होने से 'ज्येष्ठताति'[4] तथा विज्ञानमय की अद्वैत सत्ता का ही सर्वसृष्टि के रूप में विस्तार होने से यही यज्ञ 'सर्वताति'[5] भी कहा जाता है। यही 'प्रजापति'[6] का प्रजोत्पादन तथा 'भुवनस्य रेतः'[7] विष्णु का 'बृहच्छरीर'[8] होना है। इसीलिए प्रजापति और विष्णु की भी यज्ञनामों में गिनती हुई है।

अस्तु सोम यज्ञ की आत्मा और हवियों की भी हवि होने से, यज्ञ के संदर्भ में उसके प्रसिद्ध तीन सवनों को उक्त श्लिष्ट अर्थ में ही ग्रहण किया जाना ठीक है। पेय सोम का रस निकालने वाले सोमस्य गोतारः बाह्य यज्ञ में

१ विस्तृत विवरण के लिए देखिए डा० नरेशचन्द्र पाठक कृत 'ऋग्वेद में यज्ञ की कल्पना'' पृ० १६२।

२ ऋ० ६,७१,१ ३।

३ ऋ० १०,१३०,१ २,१०,६०,१५ ८,९२ २१।

४ अथ० वे० १०,८ १०,१०,१३०,२।

५ ऋ० १०,१२१ १,१० ६,३ ५ अथ० वे० ७८,१।

६ का० म० १२ ४ २७,१ सां० ब्रा० २०,१४,१ इत्यादि

७ ऋ० १,१६४,३५ ३६।

८ ऋ० १ १,१५ ६।

भाहुति दने के लिय तो सवन करत ही होंगे, परतु मुख्य यन तो नृपन्न (मनुष्य मे निवास करने वाला) है जहाँ इन्द्र के लिये भनक सवन हाने हैं (ऋ० १० ७६ २) जो मानुप सवन भयवा मानुषो मे होन वाल भूरि सवर (७ २२ ६, १ १३१ १) कहे जाते हैं। य भनेक सवन हमारे भनक भावो, मचारियो, भनुभवो ग्रादि के रूप म हमारे भीतर प्रतिक्षण होते रहते हैं, परतु प्रत्यक 'सवन' द्वारा अभिपुत सोम का वुद्धि (धी) की छलनी (पवित्र) द्वारा पवन होना भी आवश्यक है, क्योकि इसी पवन क्रिया द्वारा पूत होता हुआ पवमान सोम विज्ञानमय म इन्द्र का पेय है जिसको पीकर ही वह वृत्र वध द्वारा उषा, सूय सप्तसिन्धु सोम आदि के विमोचन का महान् 'पौंस्य करता है—गत्रु को अभिभूत करने वाले इस महान् पौंस्य का कारणभूत यह श्रेष्ठ सवन स्रोता के भीतर (सोतरि) विशेष महत्त्व[1] का है क्योकि यही अपनी विज्ञानमय की इकाई को मनोमय, प्राणमय तथा अन्नमय कोश के उन त्रिविध सवना म परिणत करता है जिन्हे आध्यात्मिक यन क प्रात, माध्य दिन तथा साय सवन कहा जाता है और जिनम से प्रत्येक के फलस्वरूप मनुष्य के भीतर (मानुषे जने) सोम भनेक सवना म (सोम पुरुषु सूयत) परिणत[2] हो जाता है ज्यष्ठताति देवताति भौर सवताति बन जाता है। यो सो परावत् (कारण शरीर विज्ञान मय कोश) म प्रथम या पूव सवन होता है जो अर्वावत् (सूक्ष्म शरीर—मनोमय) भौर शयणावत् (स्थूल शरीर—प्राणमय तथा अन्नमय शरीर) म भनेकरूप सवना म बदल जाता है परतु सवन की श्रेष्ठता इसी म है कि वह शयणावत् मे मदिन्तम हो जाय —

> भय ते मानुषे जने सोम पुरुषु सूयते। तस्येहि प्रदेवा पिव।
> भय ते शयणावति सुषोमायामधि प्रिय। भ्रार्जीकीये मदिन्तम।
> तमद्य राधसे महे चारु मदाय घव्वये। एहीमिन्द्र द्रवापिव।
>
> (८ ६४,१० १२)

भौर इसक लिय सोम का उक्त सवन भयवा सोमयन आवश्यक है।

पुरुषयज्ञ

वस्तुत यन सवत्र चल रहा है परतु सोम क उक्त सवन द्वारा वह सृजनात्मक पुरुषयन या सोमयन बन जाता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अमृतसोम

---

१ तदु श्रेष्ठ सवनमुनातन स्यो न इरतयनो अन्नि सातरि।
विन्द्वयर्या अभिभूति पास्य महो राय चित् तरुते यदवत॥
(ऋ० १०,७३ २)

२ भय ते मानुषे जन साम पुरुषु सूयते। (ऋ० ८,६४,१०)।

स सुतसोम हो जाता है उसके अन्नमय कोश का अन्न देवयोग्य 'राधस बन जाता है और सेंद्रिय मनरूपी ग्यारह देव इच्छा, ज्ञान, क्रिया क भेद से तेंतीस देव होकर इन्द्र सहित हमारे भीतर सधमादन करने लगते है। इन्द्र तो उनका भी राजा है जो सोम का सवन करके सोमसुत और सराधस कहे जाते हैं, और उनका भी जो असोमसुत एव अराधस'[1] है, परन्तु जो अराधस है वे ब्रह्मद्वषी पणि (८,६४ १ २)[2] इन्द्र के प्रति श्रद्धालु नही, अपितु नानारूपी उपा, सूय गायो तथा आप के चोर या अवरोधक होने से वध्य हैं। अत इन्द्र को ऐस जनो का स्तोम प्रसन्न नहीं करता, जो अपने भीतर सोम का व्यापक सवन करने म समथ है उसी का उक्थ सर्वाधिक स्वादिष्ठ हो जाता है उसी मे महान् राधस, मद तथा बल देनेवाला 'चारु पय इन्द्र' तथा समस्त दवों को प्राप्त हाता है। उक्त सवन अथवा सोम यन के अभाव म जीवात्मा शुन शेप'[3] की भाति उत्तम मध्यम एव अधम पाशो से जकडा हुआ या मनोमय प्राणमय तथा अन्नमय म कूपस्थ नित'[4] होकर रक्षा के लिये पुकारता रहता है। अत श्री अरविन्द के शब्दो म सम्पूण विश्व एक मूक एव असहाय यन है जिसमे जीवात्मा अदृश्य देवो की बलि होकर बद्धपशु हो रहा है। मनुष्य के हृदय और मन मे, एक विमोचनकारी धी, धीति या ब्रह्म, एक द्योतमाना मनीषा का उदय होना तथा मानवजीवन को एक एसा बलिदान बनाना आवश्यक है जिसम जीवात्मा यन का असहाय बलिपशु न होकर उसका स्वतन्त्र स्वेच्छा स यन करनेवाला यजमान बन जाय। सही यज्ञ और सवस्रष्टा एव सवबोधक धीति द्वारा ही उसकी आन्तरिक गहराइयो म से दवताओ के लिये एक सुन्दर मन्त्र, शची या उक्थ का जन्म होगा जिसके द्वारा मनुष्य सब कुछ प्राप्त कर सकता है। वह अपने पूणत्व को अमरत्व को जीत लेगा प्रकृति उसक सामन स्वयवरा वधू बनकर आयेगी और वह उसका साक्षी ऋषि बन जायेगा, एक राजा बनकर उस पर शासन करेगा। देवो को प्रसन्न एव आकर्षित करन वाली गिरा' देवो की तुष्टि एव वृद्धि करने वाली 'धीति, देवो की प्राप्ति एव आत्माभिव्यक्ति कराने वाली वाक स मनुष्य अपने भीतर देवो का वासस्थान द सकता है अपने अस्तित्व क अष्टचक्रा नवद्वारा पूरी म आराध्य देव की सजीव मूर्ति स्थापित कर सकता है अपने अन्दर दवो को जन्म द सकता है तथा अपन भीतर

---

१ त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम्। त्व राजा जनानाम् (८,६४,३)।

२ ८,६४,१२।

३ ऋ० १,२४,१२ १५ ; १,२५,२१।

४ ऋ० १ १०५,१७।

अपने आत्मा के निवास के लिए बृहत् और ज्योतिर्मय लोकों की रचना कर सकता है—ऋतवाक् द्वारा सर्वस्रष्टा सूर्य या सविता सृजन करता है, साम के द्वारा ब्रह्मणस्पति लोकों को प्रेरित करता है और त्वष्टा उन्हें बनाता है सहजचेतन हृदय में द्योतमाना मनीषा को पाकर तथा उसे अपने मन में रूप देकर मानव विचारक, यह मर्त्य जीव अपने भीतर ही उन सभी रूपों की सृष्टि कर सकता है सभी अवस्थाओं और परिस्थितियों को जन्म दे सकता है जिन्हें वह चाहता है अपने अस्तित्व की समस्त सम्पत्ति, समस्त ज्योति, शक्ति और आनन्द को अपने लिये प्राप्त कर लेता है। वह अपने सम्पूर्ण अस्तित्व का निर्माण करता है और अपने देवों को आसुरी सेना के विनाश करने में सहायता देता है, जिसके फलस्वरूप उसकी वे सभी आध्यात्मिक शत्रु सेनायें नष्ट हो जाती हैं, जिन्होंने उसके अन्तर्जगत् को विभक्त छिन्न भिन्न एवं विपण्ण बना रखा था।"

देवपान चमस

ऐसी अवस्था में हमारा अस्तित्व मानुष से विश्वमानुष होकर एक स्पृहणीय वसु (८ ६५,४२) का अधिकारी बन जाता है हमारे भीतर, इन्द्र (८ २ १) इसी वसु के रस (वसो सुतम्) को भरपेट (सुपूर्णमुदर) पीकर सोमपा सुतपा विश्वायु' (८ २ ४) बन जाता है, अग्नि विश्वायु होकर प्रिय पदों (१ ६७,३) की रक्षा करने लगता है और सोम विश्वायु रयि' (९,४,१०) ले आता है और हम 'वस्यस' होकर (९,४ ६) शाश्वत सूर्य दर्शन (ज्योक् पश्येम सूर्यम्) के योग्य बन जाते हैं। तब हमारे 'विज्ञानमय' की सच्चिदानन्द इकाई के सत् चित् और आनन्द अग्नि इन्द्र एवं सोम से क्रमशः विभु, ऋभु और वाज उत्पन्न होकर हमारे मानुष शरीर को एक ऐसा देवपान चमस बना देते हैं जो सोम्य देवों का प्रिय होता है और जिसमें अमृत देव' सधमादन करने लगते हैं (१० १६,८) तथा चार भागों में विभक्त (४ ३५,४) यह चमस अपने नेष्ट्र', पोत्र' होत्र' एवं तुरीय' पात्रों (जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति एवं तुरीय अवस्थाओं) में अद्वैत सत्ता की रमणीयता प्राप्त कर पाता है और हमारे सम्पूर्ण अस्तित्व को उस वेन यन की ज्योति में परिणत कर देता है जहाँ सारा विश्व एकनीड (१० १२३ १) हो जाता है (यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्)।

१ २ १,२, १० ६१,१०।
२ १,७६ ४ २ १,२ १०,६१,१०।
३ १,७६ ४, २,१ २ १०,६१,१०।
४ २, ७,४।

७

कवि और काव्य

पिछले अध्याय मे प्रस्तुत रस मीमासा के रस की अभिव्यक्ति कवि के काव्य मे होती है क्योकि ऋग्वेद के अनुसार काव्य मे रमणीयता प्रियता मधुर मादकता तथा चारुता मुख्य होती है और इन सबका तथा स्वय कवि-कर्म का स्रोत सोम स्वय 'दक्ष कवि (१,९१,१४) कहलाता है। यह दक्ष कवि सोम उसी मनुष्य की सेवा करता है, जो उसके 'सख्य' म रमणशील' होता है। अत एक दृष्टि स सोम ही सभी काव्यों का स्रष्टा (९,६१,१५, ९४,३) अथवा पावनकर्ता (९,६२,२५, ६६,१, १०७ २३) है और जो पूयमान (पुनान) सोम सुमेधा, गातुविद, विश्वदेव होकर अपने नित्य स्थान (नित्य सद) को प्राप्त होता है वही समस्त काव्यो मे रमणशील (विश्वेषु काव्येषु रन्ता) होता है। सोम कवि काव्यो को अपन 'नम्ण से ओतप्रोत करता है (९ ७,४), सभी काव्यों का अभिसृजन (९ २३,१) मधुरमद की धारा द्वारा करता है, तथा समस्त प्रिय काव्या (प्रियाणि काव्या विश्वा) को प्रत्यक्ष करता हुआ (अभि चक्षाण) गतिशील होता (९ ५७ २) है। सोम अपने नित्य स्थान मे एक अद्वैत, दक्ष, कवि है और उसका काव्य नित्य अत्न या पूर्व्य कहलाता है परन्तु दूसरे रूप में वह अनेक, यनरूप तथा अनित्य स्थान मे नाना काव्यो की सृष्टि करने वाला तथा स्वय इस नानारूपात्मक यन की आत्मा होकर इस अवस्था म भी 'अत्न काव्य की रक्षा करता है। अनेकविधा अभिव्यक्ति के प्रसग म वही नित्य सोम उशना भी कहलाता है, अत वह काव्य की अभिव्यक्ति उशना'

---

[1] य सोम सख्ये तव रारणद्देव मर्त्य । त दक्ष सचते कवि (ऋ० १,९१,१४)।

[2] आसा यज्ञस्य रक्षा सुष्वाण पवन सुत । अत्न निपाति काव्यम् (९,६ ८,)।

[3] प्र काव्यमुशनेव ब्रुवाण (९,९७ ७)।

की भाँति करता है अथवा काव्य के द्वारा वह स्वयं उशना[1], ऋषि, विप्र, धीर आदि बनता है। जो सोम क्रतु अगृभीत, विश्वजित तथा उद्भिद है वही काव्य के द्वारा ऋषि, विप्र आदि होता (८ ७९ १) है। सोम एक मार्जनयोग्य कवि है जिसका बुद्धियों द्वारा मार्जन (९, ६३ २०) होता है, वह एक अंशु रूप अक्षित कवि है जिसका दोहन मनीषी तथा क्रियाशील (मनीषिण अपस) कवि करते हैं (९ ७२,६)।

अग्नि और काव्य

सोम के अतिरिक्त अग्नि को भी ऋग्वेद में युवा कवि (८ ४४,२६, ३, २३ १) कवि गृहपति युवा (७,१५ २) तथा मर्त्य सत्कवियों में स्थापित अमृत प्रचेता कवि[2] कहा गया है और सोम को यदि प्रत्न काव्य की रक्षा करनेवाला बताया गया है तो अग्नि अपने तनु को प्रत्न मन्म[3] द्वारा अलंकृत करनेवाला तथा विप्र द्वारा वृद्धि करनेवाला है क्योंकि अग्नि और सोम दोनों ही विज्ञानमय की उस सच्चिदानन्द अद्वैत इकाई में एक साथ हैं जिसे परा पूर्व उत्तम आदि कहा जाता है और जो मनोमय में मध्यम तथा अन्नमय में अवम की सत्ता प्राप्त करके यज्ञ अध्वर आदि कहलाता है। अत सोम की भाँति अग्नि कवि का संबंध भी अध्वर या यज्ञ से है—वह कवि अध्वर के हेतु (अध्वराय) चारों ओर अश्व के समान ले जाया जाता (२ २ ७) है, अध्वर का प्रणेता, युवा कवि अग्नि सधस्थ (अनतरिक्ष मनोमय) में निमथित और सुधित (३ २३ १) तथा अध्वर में सत्यधर्मा कवि (१ १२ ६) अथवा कवियों द्वारा कवि होकर विप्र मनुस की हवियों द्वारा देवयजन (१ ७१ १०) करानेवाला कहा गया है। अत अग्नि अपने एक रूप में पूर्व या सद्र कवि है जो विज्ञानमय के विवस्वान् रूप (८ ११ ३) से उत्पन्न होता है और पूर्वया निविदा कव्यता से युक्त आयु (१,९६ २) होकर अपनी उक्त कव्यता द्वारा मनोमय (मनु) की उन प्रजाओं को जन्म देता है जो अन्यत्र मतियों और उक्थों के रूप में गूढ़ वचनों (निण्या वचांसि) तथा निवचन काव्यों को व्यक्त करने में अग्नि कवि का माध्यम बनती (४ ३,१६) हैं तथा जिसके कारण अग्नि समस्त काव्यों का ज्ञाता (३ १ १७ १८) तथा धारणकर्ता (१ ९६ १) कहलाता है।

---

१ काव्यविप्र कुण्णा अमृतामृभुश्रीर्ण उशना काव्येन (९,८७,३) ऋषिविंप्र कानयेन (८,७९ १)।

२ अय कविरकविषु प्रचेता मर्त्येष्वग्निरमृतो निधायि (७,४,४)।

३ अग्नि प्रत्नेन मन्मना शुम्भानस्तन्व स्वाम। कविर्विप्रेण वावृधे। (८ ४४,१२)

अग्नि के कवि होने और काव्य से सबद्ध होने का सभवत अभिप्राय यही है कि कवि और काव्य के साथ आनन्दस्वरूप सोमतत्त्व के अतिरिक्त अग्नि का कृत्व भी अपरिहार्य है इसीलिए ऊपर सोम्यरस के साथ ही कृत्यरस का भी उल्लेख किया गया है। इसीलिए अग्नि के कवित्व का मूलकारण सोम का बल (सोमस्य तवस) है जिसके प्रताप से ही (३,१,१ ५) कवियो के विदथ सभव होते हैं, और अग्नि अपने शुभ्र अगो द्वारा रजस (क्रियातत्त्व) का विस्तार तथा कविरूपी छलनियो (कविभि पवित्र) के माध्यम से ऋतु को शोधन करता है। अत अग्नि मधुहृय कवि (५ ५, २) है और काव्य द्वारा जहा अग्नि की वृद्धि होती है वहा मधुघृत की धारायें (३,१,८) गिरती हैं तथा बलपुत्र (सूनो सहस) शुक्र वपुओं को धारण करता हुआ विविध रूपो मे चमक उठता है।

इन्द्र कवि और काव्य

सोम और अग्नि के अतिरिक्त इन्द्र को भी कवि (१,११ ४) कहा गया है, और स्वय इन्द्र के मुख से भी कहलाया गया है कि वही कवि उशना (४,२६,१) आदि हो जाता है परन्तु इसका अभिप्राय सभवत यही है कि वह कवि के समान अन्तर्हित (निण्य) को सिद्ध करता है (४ १६ ३) और उशना इन्द्र के बल से ही अपने बल का निर्माण (तक्षते उशना सहसा सह ६ २०,१०) करता है। अन्यत्र वह कवियो के साथ कवि होकर दृढ पुरो को ध्वस्त करता है। (६,३२ ३) ये कवि वही हैं जिनके 'सूय' द्वारा इन्द्र द्यावापृथिवी (सूक्ष्म और स्थूल शरीर) को प्रकाशित करके अद्रि (आवरक अज्ञान) को तोडकर गायो (ज्ञानप्रकाश की रश्मियो) को व धन मुक्त अथवा जीवन चेतना के प्राप का प्रवाहित करता है (६ ३२ २)। यह द्यावापृथिवी को प्रकाशित करना एव गायो का मुक्त करना ही सभवत इन्द्र का वह मज्म काव्य (मज्मना काव्येन) है जिसके द्वारा द्यावापृथिवी का सुनिर्माण (६ ३०,६,) किया गया। सभवत पुरों का भेदक, समस्त कर्म का धारक तथा अमित ओज से युक्त होने मे ही 'युवा कवि इन्द्र (१,११ ४) का रहस्य निहित है क्योकि समस्त पुरो के भेदन के फलस्वरूप ही इन्द्र सोम्य मधु (मधुन सोम्यस्य) का राजा होता है (६ २०,३) तथा किसी 'दश ओणि कवि के निमित्त सकडो आयुधों द्वारा अन्नमय (पित्व) की असुर (शुष्ण) मायाओ का विनाश (६ २०,४) करता है। इससे स्पष्ट है कि अग्नि की भाति इन्द्र के कवि होने मे भी सोम ही कारण है और इन्द्र भी अग्नि के समान अन्य कवियो के कवित्व द्वारा कवि है क्योकि वस्तुत इन्द्र मे (इन्द्रे) तो समस्त देव ही कवि होने का

गौरव प्राप्त[1] करते हैं और इस दिशा में अग्नि की भाँति इन्द्र कवि का सम्बन्ध यज्ञ (अकसाति)[2] से विशेष प्रतीत होता है।

कवि और कवय

इस प्रकार सोम, अग्नि और इन्द्र में से प्रत्येक कवि है और कवियों में कवितम[3] है क्योंकि यदि सोम समस्त काव्यों और कवियों का एक मात्र प्रेरक स्रोत है, तो अग्नि[4] उनका कर्ता, पाता और धर्ता कहा गया है तथा इन्द्र[5] उनका प्रकाशक अनावरक अथवा मोचक माना गया है। अत सोम अग्नि और इन्द्र में से प्रत्येक कविक्रतु (३,१४,७ ८,४४,७ ५,११४, ६, १६, २३, ९९१ ९,२५ ५ ९, ६२,१३, ३,२४, ३,२७ १२, ८ ४४,७, ३, १४ ७) होने से ही कवि कहलाने का अधिकारी प्रतीत होता है क्योंकि अन्यथा कवि तो अनेक हैं—मरुतों को 'सूयस्वच कवय' (७,५९ ११), कवयो युवान (५,५८,८) तथा सत्यश्रुत कवयो युवान (५,५७ ८) कहा गया है अंगिरस तथा ऋभु भी कवय' हैं (ऋ० १०,५३, १०) और वस्तुत सभी देव ही कवय' (१०,८८ १३ ३ ५४, १७) कहे गये हैं। इन देव कवियों में से कुछ तो कर्मण्यता (अप) के लिये प्रसिद्ध हैं और प्राय 'अपस' कहलाते हैं और कुछ प्रकाशन या मनन आदि के लिये प्रसिद्ध हैं तथा मनीषी आदि कहलाते हैं—प्रथम कोटि में ऋभु आते हैं जो एक देवपान चमस को चतुर्धा करने आदि के लिये प्रसिद्ध हैं और दूसरी कोटि में मरुत और अंगिरस हैं जो उषा, सूर्य, आप आदि के आवरक वृत्रादि के वध द्वारा इन्द्र के प्रकाशन काम में सहायक होते हैं ऋभु के निर्माणकार्य का स्रोत है अग्नि अथवा सत् (१०,५३, १०) और मरुत् आदि सपूर्ण देव तो इन्द्र में ही होते (इन्द्रे कवय ऋ० ३ ५४,१७) हैं। परन्तु ये दोनों प्रकार के कवि—अपस मनीषिण सोम रूपी अक्षित कवि को, अंशु को ऋत की योनि में और पुन ऋत के सदन में दुहते हुए (९ ७२ ६) बताये गये हैं। सोम की[6] सहस्रधार विस्तृत छलनी में मनीषी रुद्र कवि (कवयो मनीषिण) वाक का शोधन करते (पुनन्ति) हैं, अथवा वे उस सोम की सहस्रा धाराओं

१ महत् तत् व कवयश्चार युक्त देवा भवथ विश्व इन्द्रे (ऋ० वे० ३ ५४ १७)।
२ ऋ० वे० १,१७४, ७ ६, २६ ३।
३ ९ ५२ ३ ७,६,१ ३, १४,१ ५,४२,३।
४ देखिये ऊपर अनुच्छेद २।
५ देखिये ऊपर अनुच्छेद ३।
६ ऋ० ९ ७३ ७।

का भाजन (६ ८७,२६) करते हैं जो देवजाता हैं। इससे प्रतीत होता है कि मूल कवि तो विज्ञानमय की वह अद्वैत सच्चिदानन्द इकाई है जिससे क्रमश अग्नि इन्द्र तथा सोम के ऋतु को लेकर मनोमय की क्रिया ज्ञान एवं इच्छा शक्तियों के नानारूप अनेक कवियों या देवों मे परिणत हो जाते है। पहले रूप में वह प्रचेतस कवि यज्ञ-साधन और व्यातत्य (१,४४,११) अद्वय, अमृत तथा यज्ञ का प्रथम केतु (३ २६ ५) है, परन्तु दूसरे रूप मे वह अनेक होकर मर्त्यों में द्विविध (द्विता) होकर (८,८४ २), अपस और मनीषिण कवय मे विभक्त हो जाता है। इन दोनो प्रकार के कवियों का सम्बन्ध क्रमश उस कृत्य रस और इन्द्ररस से जोड़ा जा सकता है जो पिछले अध्याय मे क्रियाशक्ति के प्रतीक अग्नि एव ज्ञानशक्ति के प्रतीक इन्द्र से सबन्धित है।

काव्यम्

उक्त कवि और कवियों के विवरण को देखकर यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि ऋग्वेद में काव्य क्या है और उसका सबध इन कवियों से है या नही। इसमे कोई सदेह नही कि ऋग्वेद मे भी काव्य एक 'वच', एक उक्थ (५,३६,५) है, परन्तु उक्त विज्ञानमय की सच्चिदानन्द अद्वैत इकाई मे वह या तो 'प्रत्न काव्यम्' है जिसकी आनन्दमय होने से यज्ञात्मा सोम निर्लेपरूपेण रक्षा करता है (६ ६ ८), या वह प्रत्न मन्म' है जिसके द्वारा अग्नि कवि अपने तनु (तन्व स्वा) को अलङ्कृत (८ ४४,१२) करता है अथवा वह इन्द्र की 'प्रत्न ज्योति' है जो भूत और भव्य दोनो (८ ५५ २) का स्रोत है। परन्तु यह त्रिविध वर्णन उस इकाई की अद्वैतता को नष्ट नहीं करता, क्योंकि वस्तुत वही तो देवो का परम जनित्र है जिसमें दोनों ज्योतियाँ (इन्द्राग्नी) तृतीय (सोम) ज्योति के द्वारा एक ही 'चारु मा प्रिय' इकाई मे समाविष्ट हो जाते हैं। (८,५६ १)। यह अमर काव्य है, इसी को लक्ष्य करके कहा गया है कि पश्य देवस्य काव्यं यन्नममार न जीर्यति, परन्तु इसके विपरीत मनोमय मे आकर उसी अमृत कवि को, युवा होते हुए भी बुढ़ापा घेरने लगता है, जिसके फलस्वरूप देव का काव्य[1] मरने जीने वाला (८ ५५ ५) होता है। अतएव विज्ञानमय के काव्य को 'असमष्टकाव्य'[2] तथा मनोमय के काव्य को पुनपुनर्जायमान काव्य कहा जा सकता है। पहला पूर्व्य है तो दूसरा नव्य पहला अमृत है, तो दूसरा मर्त्य[3]।

---

१ देवस्य पश्य काव्य महित्वाद्या ममार स ह्य समान (८,५५,५)।

२ ६,७६ ४,२,२१,४।

३ १,६२,१०, ३५,७।

पहले मे अग्नि, इन्द्र और सोम अपने सत्, चित्, आनन्द रूप म प्रथमानि धर्माणि[1] आधारभूत तत्व कहलाते हैं परन्तु मनोमय से लेकर अन्नमय तक यही प्रथमानि धर्माणि अनेकरूप होकर इन्द्रयुज्यविष्णु[2] द्वारा अपने तीनो पदो म धारण किए जाते हैं अग्नि[3] द्वारा पुष्ट किए जाते हैं तथा सोम[4] द्वारा रससपृक्त किए जाते हैं। आगमो की भाषा म यही ज्ञान क्रिया और इच्छा शक्तियाँ हैं जो सयुक्त रूप म हमारे विज्ञानमय आत्मा की पराशक्ति अथवा वदिक इन्द्र की शची[5] के रूप म विद्यमान रहती है और मनोमय से लेकर अन्नमय कोश तक अनेक विचारों प्रत्ययों, कृत्यो कर्मो भावों तथा अनुभावो मे व्यक्त होकर स्थापत्य तक्षण, आलेख्य सगीत नाट्य और साहित्य आदि ललित मानवीय अभिव्यक्तियों क रूप म प्रकट होती है। अत मनोमय से लेकर अन्नमय तक के नश्य काय म पूर्ण काय की अद्वैत एव अमर सत्ता क दो रूप दिखाई पडते हैं—एक अमृत रूप है जो मन प्राण, वाक चक्षु श्रोत्र आदि की चैतन्य शक्ति म निहित है और दूसरा मर्त्य रूप है जो लोम, त्वक मास, अस्थि तथा मज्जा आदि मे मूर्तिमान है—

"तद्वतो वाऽस्य पञ्च मर्त्यास्तन्व आसन् लोम त्वक मांसम् अस्थि मज्जा। अथैता अमृता मनो वाक प्राणश्चक्षुश्श्रोत्रम्।

स्पष्टत ये दोनो रूप एक दूसरे के विपरीत हैं। एक अमृत अमूर्त तथा अनिरुक्त है तो दूसरा मर्त्य मूर्त एव निरुक्त एक अखियारा है तो दूसरा अन्धा एक लगडा है तो दूसरा परो वाला, एक पुरुष है तो दूसरा स्त्री। इन दोनो के इस पारस्परिक विपर्यय को दोनो के परस्पर विरोधी नाम भी सूचित करते हैं। अत पहले का नाम 'कवि है जिसके मूल म कव धातु है जबकि दूसरे का नाम वाक है जिसकी निष्पत्ति न केवल 'वच' धातु से सम्भव है अपितु वक्वा, वक्वरी, वाव आदि वदिक शब्दो की वक धातु से भी हो सकती है। एक को पश्य[6] कहते हैं क्योंकि उसके निष्क्रिय कर्म को पश (देखना) धातु मे व्यक्त किया जाता है और दूसरे को 'शब्द' भी कहते हैं, क्योंकि उसकी व्युत्पत्ति न केवल शब्द शब्दक्रियायाम से अपितु 'पश' के विलोम शप आक्रोशे से भी हो सकती है।

---

१ १,१६४ १०,१०,६०,१६ १ १६४,४३। ४ ६ ६७ १२।
२ १ २२,१६। ३ ३ २ १ ५,२६,६
५ ऋ० १०,२४६ ।
६ न पश्यो मृत्यु पश्यति न रोग नोत दुःखता सर्व पश्य पश्यति सर्वमाप्नोति सर्वशः (छा उ ७ २६ २)

इन दोनो स्वरूपो के विपर्यय म पार्थक्य अथवा विरोध देखना भूल होगी क्योंकि व एक ही आत्मा क दो पक्ष हैं जिनम से एक दूसरे का पूरक है—एक धनात्मा है तो दूसरा ऋणात्मा, एक शक्तिमान् है तो दूसरा शक्ति। दोनो म अविना भाव सम्बन्ध है, एक दूसरे के बिना नही रह सकता —

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्य वह्निदाहकयोरिव ॥[1]

परन्तु यह रूप द्वन्द्व स्थूल जगत् म ही है, और यहा भी ये दोनो ऐसे घुले मिले हुए हैं कि एक ही दिखाई पड़ता है अत लोग शक्ति को ही शक्तिमान्, वाक को ही कवि अथवा स्त्री को ही पुरुष समझ बैठत हैं, उनके यथार्थ विवेचन म तो ज्ञानी ही समर्थ हो सकता है —

स्त्रियः सतीस्ता उ मे पुंस आहु ।
पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः ।[2]

वास्तव म, जसा कि साख्य ग्रन्थो म कहा गया है, स्त्री (प्रकृति) पुरुष के चारों ओर ऐसा जाल बिछा देती है कि वह अपने को पूर्णतया भूल जाता है और प्रकृति को ही आत्मरूप समझने लगता है। ऋग्वेद मे इसी बात को बतलाते हुए कहा गया है कि इस प्रकार के भ्रान्तिपूर्ण ज्ञान को रखने वाला पुत्र कवि है और इसको सविशेष जानने वाला कवि तो पिता का भी पिता है —

कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत ।
यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत्॥ (ऋ० वे० १ १६४ १६)

यह 'पिता का भी पिता' आत्मा का वही शुद्ध, बुद्ध और चित् स्वरूप है जिसमे उक्त सारा द्वन्द्व द्वैत अथवा अनेकत्व विलीन हो जाता है—न वहा शक्ति (वाक) रहती है न उसका वह पुत्र (कवि) वे न जाने कहा समा जाते हैं और न मालूम कहाँ से वह उत्पन्न हो जाता है —

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्
सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अन्तः ।

यहाँ यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पिता कवि वही अद्वैत तथा अमृत आत्मा अथवा ब्रह्म है, जिसका उल्लेख प्रारम्भ मे पूर्व या अमृत कवि के रूप म तथा श्रीमद्भगवद्गीता क 'कविं पुराणम्' आदि म मिलता है। इसी कवि का मूर्तरूप दूसरा कवि है जो 'वाक' के साथ व्यावहारिक जगत् म द्वैतसत्ता क

---

१ अभिनव गुप्त परा त्रि १ १ ।
२ ऋ० वे० १ १६४ १६ ।

रूप म रहता है और जिसे ऊपर नव्य कवि भी कहा गया है। पहला अव्यक्त है तो दूसरा व्यक्त दूसरा पहले का सप्रसारण मात्र है। अत पहले 'कवि की व्युत्पत्ति कु' धातु से मानी जाती है और दूसरे की कु व सप्रसारण कव धातु से[1]। दोनो कवियो क स्वरूपो म जिस प्रकार भिन्नता है उसी प्रकार दोनों की धातुओ क अर्थों म भी—कु' का प्रयोग शब्द के लिए होना' है जिसका अथ इस प्रसग म श्रोत्रग्राह्य स्वन या ध्वनि न होकर शब्दब्रह्म अथवा शब्दविस्फोट आदि की कल्पना म उपलब्ध अमूत्त अभिव्यक्ति है कव का प्रयोग वण अथ मे होता है जिसस रग रूप वणन आदि की मूत अभिव्यक्ति होती है।[2] प्रथम दूसरे स पृथक नहीं है परन्तु वह मूल तथा अमूत है, जबकि दूसरा उसका मूत सप्रसारण। पहला कवि अद्वत तथा निष्कल है जब कि दूसरा द्वत वाक (शक्ति) स सयुक्त। व्यावहारिक जगत् म दूसरे का अस्तित्व ध्रुव सत्य है परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से पहला ही एक मात्र मत है।

काव्य का काव्यत्व

हमारे स्थूल भौतिक जगत् मे रसस्वरूप ब्रह्म अपने शुद्ध तथा आत्यन्तिक रूप म नही रह सकता यहाँ वह धन तथा ऋण सरस तथा अरस सुख तथा दुख दोनो ही पक्षो म मिलता है। हमारे व्यष्टि तथा समष्टि क जीवन म दोनो तत्व विद्यमान हैं चाहे हम उन्हे ब्रह्म माया या पुरुष प्रकृति कहे अथवा शक्तिमान शक्ति या कवि वाक कहे यह बात निर्विवाद है कि यहाँ व्यावहारिक जगत म इस जोड म म दूसरा तत्व ही प्रधान रहता है और 'स्त्रिय सतीस्तां उ म पुस आहु का वेदवाक्य चरिताथ करता है। अत शरीरधारियो की जो भी अभिव्यक्ति होगी वह साधरणतया शक्तितत्व या वाक' रूप मे ही होगी। वाक रूप अभिव्यक्ति को वाक्य कहा जायेगा और इसम—केवल शुद्ध वाक्य म—रस नहीं होगा। परन्तु शक्ति तथा शक्तिमान् अथवा कवि तथा वाक का अविनाभाव सम्बध होन स कोई भी अभिव्यक्ति कोरी वाक्य रूप नहीं हो सकती उसके भीतर प्रच्छन्नरूप म कवि तो रहेगा ही। अत 'वाक्य' यदि अपने म कवि को गुप्त स प्रकट अनिरुक्त स निरुक्त कर सके, तो 'कवि' की अभिव्यक्ति को काव्य कहा जा सकता है, क्योकि कवि स्वय बिना वाक क मूत या व्यक्त हो ही नहीं सकता। 'कवि' को व्यक्त करने का अभिप्राय

1 देखिये उण ४ १३८

2 पा० धा० पा० १ ६८६ २ ३३ ६,१०८

3 पा धा पा १ ४०५, देखिये आप्टे स शब्दकोष

रस के उत्स को खोल देना, अतः 'वाक्य' में जितनी पुष्ट रस की आती जायगी उतना ही वह काव्य कहलाने का अधिकारी होता जायगा। इसी को इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'वाक्य' जितना ही अधिक काव्यरूप होगा, अपने में कवि को प्रत्यक्ष करेगा उतना ही वह रसात्मक होता जायगा। इसीलिए साहित्यदर्पणकार की परम्परा में रसात्मक वाक्य को ही काव्य माना जाता है।

काव्य के इस स्वरूप के अन्तर्गत सभी प्रकार की रसात्मक अभिव्यक्तियाँ आ जाती हैं। वास्तु, मूर्ति तथा चित्र जैसी स्थूल कलाओं से लेकर संगीत तथा कविता जैसी सभी कलाएँ रसात्मक अभिव्यक्तियाँ होने से 'काव्य' हैं। यही कारण है कि प्रसिद्ध कलामर्मज्ञ श्री रायकृष्णदास जी ने 'साहित्यदर्पण' तथा 'रसगंगाधर' की काव्य परिभाषाओं को कला मात्र के लिए उपयुक्त पाया है। उनका कहना है कि— "काव्य की जो परिभाषा ऊपर यहाँ है उसे यदि व्यापक रूप में लगाइये, तो वह काव्य की परिभाषा नहीं रह जाती; चित्र, मूर्ति, कविता, संगीत आदि कला मात्र की परिभाषा बनाने के लिए, एकदेशीय रूप देकर काव्य की परिभाषा प्रस्तुत की गई है। अर्थात् काव्य की परिभाषा की पूर्ण व्याप्ति तभी होती है, जब हम 'वाक्यरसात्मक काव्य' के स्थान पर 'कृतिरसात्मिका कला' कहें या 'रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम्' के बदले 'रमणीयार्थप्रतिपादिका कृतिः कला' कहें।" वस्तुतः हमने काव्य का जो रूप ऊपर निर्धारित किया है, उसको ध्यान में रखने पर उक्त दोनों परिभाषाओं में बिना कोई शाब्दिक हेर-फेर किए ही 'रसात्मक' अथवा 'रमणीयार्थप्रतिपादक' वाक्य के अन्तर्गत सभी कलाओं को लिया जा सकता है। मेरा अपना अनुमान तो यह है कि उक्त दोनों परिभाषाएँ सम्भवतः उस काल से चली आ रही थीं जिस समय 'काव्य' तथा 'वाक्य' अपने मूल अर्थ में प्रयुक्त होते थे और साहित्यदर्पणकार तथा रसगंगाधरकार ने केवल उनका पुनरुद्धार करके उन्हें कविता में लागू किया। जैसा इन ग्रन्थों में 'कविता' के लिए किया गया वैसा ही सम्भवतः अन्य कलाओं के लिए तत्सम्बन्धी ग्रन्थों में भी किया जाता होगा। इसका सबसे अच्छा प्रमाण 'विष्णुधर्मोत्तरपुराण' नामक ग्रन्थ है जहाँ एक से अधिक कलाओं में कविता के समान ही रसात्मकता का उल्लेख किया गया है। यहाँ पर विभिन्न कलाओं से सम्बन्ध रखने वाले आवश्यक उद्धरणों को 'विष्णुधर्मोत्तरम्' में से दिया जा रहा है—

१ नाट्य—शृंगारहास्य करुणा वीर रौद्र भयानकः।
बीभत्साद्भुत शान्ताख्या नव नाट्यरसाः स्मृताः॥

२ गान—नव रसाः। तत्र हास्य शृंगारयोर्मध्यम पञ्चमौ। वीररौद्रा-

द्रुतेषु यद्जयथमौ। करुणे निपादगान्धारौ। वीभत्स भयानकयोर्धैवितम शान्ते मध्यमम्। तथा लया। हास्य शृंगारयोमध्यमा। बीभत्सभयानकयोर्विलम्बितम। वीररौद्राद्भुतेषुद्रुतम।

३ नृत्त—रसेन भावेन समन्वित च तालनुगकाव्यरसानुग च गीतानुग नृत्यमुच्यातिशय सुखप्रद धर्मविवर्धनञ्च।

४ चित्र—शृंगार हास्यकरुणावीर रौद्रभयानका
बीभत्साद्भुतशान्तश्च नव चित्र रसा स्मृता।

५ मूर्ति—यथा चित्र तथोक्त खातपूर्वनराधिप।
सुवर्णरूप्यताम्रादि तच्च लोहेषुकारयेत्।

उपर्युक्त अवतरणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय परम्परा के अनुसार, नाटय आदि कलाओ म भी रस का वही स्थान था जो कविता मे। इन कलाओ को 'रसात्मक वाक्य' कहना उतना ही उपयुक्त है, जितना कविता को। अत इन सभी अभिव्यक्तियों को काव्य रस रूप कवि (आत्मा) की अभिव्यक्ति से युक्त 'वाक्य' कहना अनुचित नहीं है।

काव्य-रस

अब प्रश्न होता है कि ऊपर रसो व स कहकर जिस रस का उल्लेख किया गया है उसम तथा काव्य रस मे क्या कोई अन्तर नहीं। वास्तव मे इस प्रश्न का उत्तर काव्य के उक्त स्वरूप म ही निहित है। काव्य तो स्वभावत अभिव्यक्ति है जबकि वह रस-स्वरूप ब्रह्म (आत्मा) यथार्थत अव्यक्त एव सूक्ष्म है, काव्य चक्षु श्रोत्र, मन आदि से भोग्य है, जबकि वह इन सबस परे है और उसके विषय मे कहा गया है कि—

यतो वाचि निवर्तन्त अप्राप्य मनसा सह।
आन द ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति॥(तै० उ० २ ६)

शक्तिमान् की अभिव्यक्ति शक्ति द्वारा होती है आत्मा की अभिव्यक्ति शरीर द्वारा होती है, कवि वाक्य' द्वारा ही व्यक्त हो सकता है क्योंकि बाह्य अभिव्यक्ति मात्र स्थूल जगत् की वस्तु है। अत काव्य से वाक्यत्व, शरीरत्व अथवा स्थूलत्व का पूर्णाभाव कदापि नही हो सकता क्योंकि उसके जाते ही व्यावहारिक जगत् का द्वैतभाव ही चला जायेगा। अत वाक्याश्रित काव्य का रस शुद्ध ब्रह्मानन्द रस नहीं हो सकता। इसी से काव्य रस को ब्रह्मानन्द न कहकर ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है।

ब्रह्मानन्द से काव्य रस भिन्न होते हुए भी तत्त्वत एक ही है, क्योंकि काव्य

रस यथावत अव्यक्त रस का ही व्यक्त रूप है। अतः इसके वास्तविक स्वरूप को समझने के लिए अव्यक्त की व्यक्तीकरण प्रणाली समझना परमावश्यक है।

अव्यक्त जिस स्थूल यन्त्र द्वारा व्यक्त होता है, उसकी रचना में ही सारा रहस्य छिपा हुआ है। इस यन्त्र को हम व्यष्टि रूप में शरीर कहते हैं। इसका स्थूलतम रूप तो 'अन्नमय कोश' है जिसमें पिण्डात्मक तथा रसात्मक पदार्थ हैं। इस कोश के कण-कण में भिदा हुआ 'प्राणमय कोश' है जिसमें वायव्य एवं वैद्युत् तत्त्व हैं। 'प्राणमय' के अणु अणु में 'मनोमय कोश' व्याप्त है जो हमारी इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया शक्तियों को सचालित करता है तथा उनको नानारूप प्रदान करता है। मनोमय के मूल में विज्ञानमय-कोश है जहां मनोमय की सारी नानात्वमयी अनुभूतियाँ एकमात्र अनुभूति का रूप धारण कर लेती हैं। विज्ञानमय' का सूक्ष्मतम रूप तथा स्रोत आनन्दमय कोश है, जिसमें पूर्ण अद्वैत आनन्द स्वरूप ब्रह्म है। यही यथार्थ 'रस' है। यहां पर अहंता तक नहीं रहती, अतः अभिव्यक्ति की बात ही कैसे हो सकती है। वह तो सर्वथा अव्यक्त रस है, व्यक्तीकरण के साथ ही अहंकार प्रारम्भ हो जाता है, जो पूर्ण अद्वैत नहीं तो 'अन्यद्विव'[1] तो अवश्य है।

व्यक्तीकरण का प्रारम्भ 'विज्ञानमय' कोश में होता है। इस कोश की अभिव्यक्ति सूक्ष्मतम है, जो मनोमय तथा प्राणमय में उत्तरोत्तर स्थूल होती हुई अन्त में अन्नमयकोश में स्थूलतम होकर इन्द्रियों का विषय बन जाती है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के अन्तर्गत 'प्रिय' (सुन्दर) में परिणत होकर श्रोत्रादि इन्द्रियों द्वारा आस्वाद्य हो जाती है। अन्नमय तथा प्राणमय कोशों को 'स्थूल शरीर' भी कहते हैं और मनोमय को सूक्ष्मशरीर तथा विज्ञानमय को कारण शरीर'। इन्हीं तीनों शरीरों के द्वारा वह अव्यक्त रस व्यक्त होता है, यही तीन स्तोम' हैं जिनके द्वारा वह परिवृद्ध होता हुआ बतलाया गया है —

य स्तोमेभिर्वावृधे पूर्व्येभिर्यो मध्यमेभिरुत नूतनेभिः।

(ऋ० वे० ३ ३२ १३)

इस अभिव्यक्ति का कारण है 'अव्यक्त की शक्ति जिसको वाक् माया आदि नामों से पुकारा जाता है और जिसके प्रादुर्भूत होते ही ब्रह्म माया धनात्मा ऋणात्मा अथवा कवि वाक् का 'द्वैत' चल पड़ता है इसके फलस्वरूप अष्टचक्रा नवद्वारा अयोध्या के जिस स्वयम्भू यक्ष (आत्मा) का उल्लेख हो चुका है वह शरीर त्रय के उपाधि भेद से कवि, मनीषी तथा परिभू रूप धारण

[1] देखिये बृ० उ० ४ ३ ३१

रखता हुआ काव्य म यथोचित अर्थो (विषयो) की स्थापना करता है —

कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् ।
व्यदधाच्छाश्वतीभ्य समाभ्य । (य० वे० ४० ८)

एकत्व—अनेकत्व—अद्वैत—कविवागात्मक द्वैत के इस व्यक्तीकरण म एक ध्यान देने की बात यह है कि कवि (आत्मा) की अभिव्यक्ति जितनी अधिक स्थूल होगी उस पर वाक (माया) का आवरण उतना ही गहरा होगा और रसस्वरूप आत्मा (कवि) उतना ही परोक्ष रहेगा । इसके विपरीत उसकी अभिव्यक्ति जितनी सूक्ष्म होगी वाक का आवरण उतना ही हल्का होगा और आनन्दस्वरूप आत्मा उतना ही अधिक प्रत्यक्ष होगा । अतएव हमारे स्थूल शरीर म वाक (माया या प्रकृति) का आवरण बहुत स्थूल होने से 'कवि (आत्मा) पूर्णतया परोक्ष रहता है और उसकी जो अभिव्यक्ति भी होती है वह केवल आभास मात्र रसस्वरूप ब्रह्म का जो क्षुद्रतम परमाणु मिलता भी है वह भी माया शबलित । यही कारण है कि हम अपने स्थूल अंगो स जिन भोगो को भोगते हैं उनसे हम केवल क्षणिक सुख ही मिलता है जिसस हमारी प्यास अतृप्त ही रह जाती है ।

इसके अतिरिक्त वाक कवि या माया ब्रह्म एक ही रसस्वरूप आत्मा के ऋण तथा धन पक्ष होने के कारण वाक द्वारा अभिव्यक्त कवि का स्वरूप रसात्मकता म अरसात्मकता अथवा कि रसात्मकता भी मिश्रित रखता है । इसके फलस्वरूप परम चिन्मय तथा आनन्दस्वरूप आत्मा की अभिव्यक्ति हमारे स्थूल शरीर मे पानी के बुदबुदो की भाति अनेक क्षणिक भावो के रूप म होती है । परन्तु ज्यो ही हम स्थूल शरीर से सूक्ष्म शरीर की ओर जाते हैं त्यो ही बात बदल जाती है—रसात्मकता म अरसात्मकता की कटुता कम होने लगती है भावो की क्षणभगुरता के स्थान पर स्थायित्व आने लगता है और अनेकता एकता की ओर अग्रसर होने लगती है यहा तक कि विज्ञानमय कोष म जाकर सारा नानात्व एकत्व म परिणत हो जाता है जिसके भीतर समान ज्ञान मेधा दृष्टि धृति मति मनीषा जूति स्मृति सकल्प ऋतु असु का आदि सभी का समावेश हो जाता है ।[1] अनेकता के साथ ही उनकी विभिन्नता भी चली जाती है और वहाँ केवल रस (आनन्द) की ही अनुभूति होती है इसी को रस की मधुमती भूमिका कहा है जिसका चित्र पातञ्जल योग भाष्यकार व्यास ने इस प्रकार दिया है —

1 ऐ० उ० ३ २ ३

मधुमतीं भूमिका साक्षात्कुर्वतोऽस्य देवा सत्वशुद्धिमनुपश्यन्त स्थान रुपनिमन्त्रयन्ते 'भो इहास्यताम्, इह रम्यताम्, कमनीयोऽयभोग, कमनीयेय कन्या, रसायनमिद जरामृत्यु बाधते, वहायसमिद यानम अमीकल्पद्रुमा, पुण्या मन्दाकिनी सिद्धा महर्षय, उत्तमा अनुकूला अप्सरस दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी, वज्रोपम काय स्वगुण सर्वमिदमुपार्जितमायुष्मता, प्रतिपद्यतामिदमक्षयमजर ममरस्थान देवाना प्रियमिति।

यहाँ पर ग्रानन्द के अनेक भौतिक और अलौकिक प्रतीको के द्वारा विज्ञान मय कोशस्य मधुमती भूमिका की 'रसानुभूति' का स्वरूप दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। वेद मे इसका वर्णन और सरल तथा सरस है —

यत्र ज्योतिरजस्र यस्मिन् लोके स्वर्हितम्।
यत्रानुकाम चरण त्रिनाके त्रिदिवे दिव।
लोकायत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र मामृतकृधि।
यत्र कामा निकामाश्च यत्र बृध्नस्य विष्टपम्।
स्वधा च यत्र तृप्तिश्च तत्र माममृत कृधि।
यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुद प्रमुद आसते।
कामस्तु यत्राप्ता कामास्तत्र माममृत कृधि।
(ऋ० वे० ६ ११३ ■ १०)

उपर्युक्त अनेक क्षणिक भावो तथा 'एक मात्र रस' के बीच म उन भावो की स्थिति है जो कई हैं और स्थायी हैं। यदि हम कोशो को ध्यान मे रखकर चलें तो अन्नमय म स्थूल इन्द्रियो के सन्निकर्ष से होने वाली अनुभूतिया ही क्षणिक भाव है जो प्रतिक्षण बदलते रहते हैं और विज्ञानमय म इन सब का एक तथा साधारणीकृत रूप है। इन दोनो कोशो के बीच म 'प्राणमय कोश म पहुँचकर अन्नमय' क क्षणिक भाव स्थायित्व ग्रहण कर लेते हैं और मनोमय म जाकर यही स्थायीभाव रसत्व ग्रहण कर लेते हैं। स्थायी भावों की इन दोनों अवस्थाओ म कोई गुण भेद नही है केवल मात्रा भेद है। अत भानुदत्त न अपनी रसतरंगिणी म पहली अवस्था क स्थायीभावो को लौकिक रस तथा दूसरो को अलौकिक रस' कहा है। इन दोनों की व्याख्या करते हुए तरङ्गिणीकार न कहा है कि पहले प्रकार क तो व रस हैं जो व्यावहारिक जीवन म अनुभव किये जाते हैं जब कि दूसरे प्रकार क व हैं जिनकी अनुभूति स्वप्न दर्शन, मनोराज्य करने तथा काव्य आस्वादन म होती है। इसलिए रसानुभूति की अवस्थाए निम्नलिखित कही जा सकती है —

१ अन्नमय कोश	क्षणिक भाव
२ प्राणमय कोश	नवस्थायी भाव (लौकिक रस)
३ मनोमय कोश	नव रस (अलौकिक रस)
४ विज्ञानमय कोश	एक रस (ब्रह्मानन्द सहोदर)

रसानुभूति के स्तर भेद के अनुसार, रस के विभावक पदार्थों अथवा काव्यों के भी चार भेद हो सकते हैं —

१ सञ्चारी काव्य जो केवल क्षणिक भावों का उद्रेक कर सकते हैं।
२ स्थायी काव्य जो स्थायी भावों का विभावन कर सकते हैं।
३ रसकाव्य जो उक्त भावों को अत्यधिक तीव्र तथा सरल करके उन्हें रसत्व प्रदान कर देते हैं।
४ एक रस काव्य, जो अनेक रसों की परिणति केवल एक 'रस' में कर सकता है। वास्तव में इस प्रकार का कोई काव्य 'रसकाव्य' से भिन्न नहीं होता अपितु 'रसकाव्य' ही काव्यास्वादक के सहृदयपन आस्वादन प्रयत्न आदि अनेक परिस्थितियों के कारण 'रस' मात्र की अनुभूति कराने में समर्थ हो जाता है। अतः वस्तुतः काव्य के भेद तीन ही हैं।

नाट्य—श्रेष्ठ काव्य—परन्तु सभी काव्य रसानुभूति की अन्तिम अवस्था तक पहुँचाने में एक से समर्थ नहीं हो सकते। ऊपर विष्णु धर्मोत्तर में वर्णित नाट्य, गान, नृत्य, चित्र तथा मूर्ति नामक काव्यों का उल्लेख किया गया है। इनमें से कुछ तो केवल दृश्य हैं और कुछ केवल श्रव्य, इन दोनों के अतिरिक्त तीसरे प्रकार का काव्य वह है जो दृश्य तथा श्रव्य दोनों होने के कारण 'मिश्र' कहा जा सकता है। ऐसा काव्य ही वस्तुतः सर्वोत्कृष्ट रसानुभूति कराने में सब से अधिक तथा सुगमता के साथ सफल हो सकता है क्योंकि जहाँ अन्य काव्य केवल श्रोत्र या केवल नेत्र द्वारा हम विभावित करेंगे वहाँ मिश्र काव्य दोनों इन्द्रियों द्वारा अपना प्रभाव डालेगा। इस प्रकार का काव्य 'नाट्य'[1] ही हो सकता है परन्तु नाट्य को नाटक का पर्यायवाची समझना भूल होगी क्योंकि इसके तत्त्व न केवल गीत, अभिनय तथा रस हैं अपितु चौथा तत्त्व[2] पाठ भी है, जिसके साथ इतिहास सहित वेद धर्म अर्थ उपदेश तथा संग्रह का सम्बन्ध होने से नाट्य नाटक से कुछ पृथक् सा हो जाता है[3]।

---

१ ना० शा० १ ११
२ जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥ (ना० शा० १ १ १७)
३ ना० शा० १ १५ १६

नाटय ग्द की उत्पत्ति 'नट' धातु से हुई है, जिसका प्रयोग केवल नृत नत्य, अभिनय आदि अर्थों मे होता है अत उक्त 'नाटय को 'भरतनाटय कहना अधिक उपयुक्त है क्योकि प्रसिद्ध सगीत ममन श्री जयदेवसिंह के अनुसार 'भरत श द के भ र तथा त क्रमश भाव राग एव ताल के भी द्योतक हैं। मालविकाग्निमित्र मे कालिदास ने 'चलित नामक नाटय का जो वणन किया है उससे भी नाटय के ऐसे ही रूप का पता चलता है जिसम गीत वाद्य नत्य भाव राग एव ताल और अभिनय सभी का समावेश था। 'चलित मे पहले मुरज-वाद्यनाद होता है फिर मालविका उपगान करके चतुष्पदगीत गाती है और गीत के वचनो का अपने अङ्गो द्वारा 'अभिनय' करती हुई 'नाटय करती है जिसका सु दर वणन निम्नलिखित है —

> अङ्गैरन्तर्निहितवचन सूचित सम्यगर्थ ।
> पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्व रसेषु ।
> शाखायोनिमृ दुरभिनयस्त द्विकल्पानुवृत्तौ ।
> भावो भाव नुदति विषयाद रागबन्ध स एव॥

चलित नाटय के उक्त वणन से स्पष्ट है कि इसके अ तगत गीत, वाद्य, अभिनय नत्य आदि के रूप मे दृश्य तथा श्रव्य दोनो तत्व रहते थ। परन्तु चलित नाटय तो एक प्रकार है जिसम एक गीत के अथ को ही अभिनीत किया गया नाटय के व्यापक क्षेत्र में तो 'लोकचरित'[१] का प्रदशन हो सकना भी सम्भव था —

> त्रगुण्योद्भवमत्र लोकचरित नानारस दृश्यते ।
> नाटय भिन्नरुचेजनस्य बहुधाप्येक समाराधनम ॥

लोकचरित के प्रदशन ने ही रूपको का रूप धारण कर लिया। अत भारतीय नाटयशास्त्र मे नत्य अभिनय वाद्य, गीत आदि के साथ-साथ रूपको का भी विवेचन किया जाता है।[२] नाटय (विशेषकर रूपक) म पद्यगीत के साथ ही गद्य[३] वाक्यावली का भी थोडा-बहुत प्रयोग सदा होता रहा। परन्तु गद्य नाटय म पद्य की अपेक्षा प्रारम्भ मे कम महत्त्व की थी क्योकि वह तो केवल बोली ही जाती थी जिस कारण उसका नाम गद्य[३] (बोलने योग्य) था। उसकी आवश्यकता तो कथानक को कहन मात्र म ही थी और रसोत्पत्ति म उसका कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। इसके विपरीत पद्य गीत हो म एसी लय होती थी जिसके अनुसार नत्य म पाद-न्यास किया जा सके और अभिनय मे पदन

१ ना० शा० ३६ ११
२ ना० शा० का १८वाँ अध्याय इस प्रसग मे देखा जा सकता है।
३ गद्य गद् धातु से निष्पन्न है जिसका अथ है बोलना।

हो सकता था अपितु धर्म संस्थापन का एक प्रबल साधन भी हो सकता था, क्योंकि सत्, चित् और आनन्द नामक तीन प्रथम धर्मों को समन्वित और शिवतम रूप में मनोमय से अन्नमय तक के विविध आवरण में अवतरित करना ही तो धर्म-संस्थापन है, वेदव्यवहार है जिसको सार्ववर्णिक बनाने की दृष्टि से नाट्य[1] की सृष्टि हुई मानी जाती है। इसलिए नाट्य में धर्म, अर्थ, यश आदि से सम्बन्ध रखने वाले सभी कर्मों की शिक्षा होती[2] है। एक समय जिस प्रकार समाज में कृत्रिम वेदियों पर होने वाले अग्निष्टोमादि यज्ञ हमारे पिण्डाण्ड तथा ब्रह्माण्ड की प्राकृतिक वेदियों में होने वाले आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक यज्ञ के प्रतीक तथा व्याख्यान होकर वैदिक ज्ञान को सभी वर्णों के लिए प्रत्यक्ष करते थे उसी प्रकार ऋग्वेद के सम्वाद सूक्तों को रूपकत्व प्रदान करके, सोमक्रयण आदि में अवस्थानुकृति करके अथवा 'महाव्रत' आदि में पद्यगीतों का नृत्त-समन्वित नाट्य करके, या महाभाष्य में उल्लिखित कंस वध बलि बंध जैसे लोक चरितों को रूपकत्व देकर अथवा रामायण तथा भागवत के आधार पर रामलीला एवं रासलीला करके वेद ज्ञान तथा वेद व्यवहार को सभी वर्णों के लिए बोधगम्य बनाने का प्रयत्न किया गया। वेदज्ञान तथा वेदव्यवहार को सार्ववर्णिक बनाने वाले सभी प्रयत्नों का तत्त्व एक ही मार्ग था और वह था अमूर्त को मूर्त, सूक्ष्म को स्थूल, अन्त को बाह्य तथा अनिरुक्त को निरुक्त करना। इसकी प्राप्ति के लिए धारणा ध्यान तथा समाधि का मार्ग तो केवल ब्राह्मणों या योगियों के लिए ही सम्भव था क्योंकि अन्य वर्ण (क्षत्रिय वैश्य शूद्र) तो जीवन संग्राम में ऐसे व्यस्त थे कि उनको न तो इतना समय ही था और न शक्ति ही जो वे साधना के इस सूक्ष्मपथ का अनुसरण करते। अतः उनके लिए तो प्रवृत्तिमार्ग पर चलते हुए उक्त स्थूल पथ का सहारा ही श्रेयस्कर हो सकता है। ब्राह्मणवर्णिक तथा सार्ववर्णिक मार्गों का यह भेद मनुष्यों के सामाजिक गुण कर्म तथा शक्ति पर आश्रित था न कि उनकी जन्मजात परिस्थितियों पर। नाट्य आदि सभी काव्यों का उद्देश्य जन साधारण को रसानुभूति के लिए अधिकाधिक तैयार करना तथा वेद व्यवहार का सिखाना था। अतः उक्त सार्ववर्णिक नाट्य आदि के आयोजन सार्वजनिक आयोजन होते थे जिनमें आबाल वृद्ध सब भाग लेते थे जब कि ब्राह्मणवर्णिक वैयक्तिक साधना के लिए व्यक्तिगत तैयारियों की आवश्यकता थी जिसकी पूर्ति वेदाध्ययन, योगाभ्यास तथा तप

---

१ ना० शा० १ । ११ १६

२ वही

द्वारा हो सकती थी, अत यह साधना कुछ विशिष्ट व्यक्तियों के ही वश की बात थी, जब कि नाटय आदि सबके लिए सुगम तथा सुलभ हो सकते थे।

काव्य से साहित्य—वदिककाल म नाटय के क्षेत्र म जो उदार दृष्टिकोण दिखाई पड़ता है वह सभी प्रकार के कार्यों के क्षेत्र म रहा होगा क्योंकि उस समय समाज के किसी व्यवहार में सकीणता अथवा अनुदारता का परिचय नही मिलता। परन्तु आगे चलकर यह बात न रह सकी और समाज म वैषम्य, भेदभाव सकीणता तथा अनुदारता ने घर कर लिया।

इस परिवतन का कारण सभवत व प्रतिबन्ध और प्रतिषेध हैं जिनकी सृष्टि किसी ऐतिहासिक कारण से अपनी सस्कृति रक्षा के लिये इस राष्ट्र न की होगी। गृह्यसूत्रा म स्त्रियो से यज्ञोपवीत तथा वेदाध्ययन का अधिकार छीन लेने के विषय म शास्त्राय मिलता है और सभवत इसी के परिणाम स्वरूप ही स्त्रिया का यह अधिकार छिन भी गया। बहुत सम्भव है कि ऐसे ही किसी बाहरी प्रभाव से अपनी सस्कृति को बचाने के लिय वेद को लिखन तथा प्रतिलोम विवाह करने आदि का निषेध किया गया हो और भारतीयो न स्वय को उच्चवर्गीय आय तथा विजातीयो को निम्नवर्गीय दस्यु कहा हो। इस विषय म गम्भीर खोज और विचार के परिणामस्वरूप यही प्रतीत होता है कि राष्ट्र किसी समय किसी ऐसी जाति के सम्पक म आया जो दस्युवृत्ति, पशुबलि आदि के साथ-साथ समाज में वगवाद, रगभेद तथा जाति भेद की विशेषतायें रखता थी, क्योंकि वदिक समाज म ये विशेषतायें निस्स देह दिखाई नहीं पड़ती। इसी सम्पक से जिन कुरीतियो का आयात हुआ उसी स समाज म सकीणता तथा भेदभाव की उत्पत्ति हुई और इसके फलस्वरूप जो वण शब्द केवल वणनात्मक था और व्यक्तियो के गुण-कम स्वभाव का वणन भर करता था वही अब उस वग के लिय प्रयुक्त होने लगा जो जन्म तथा परम्परा गत कम पर आश्रित हो गया। चातुवण्य का आधार गुण, कम और स्वभाव के स्थान पर जन्म होने स बहुत बडा परिवतन हो गया समाज म समत्व के स्थान पर वषम्य आ गया और आय अनाय ऊच-नीच, पवित्र अपवित्र तथा स्पश्य अस्पश्य के भेद भाव का उदय हुआ। इस नई विचारधारा का पुरानी विचारधारा स पर्याप्त सघष होना स्वाभाविक था, परन्तु इस सघष म विजयश्री नई को ही मिली हुई लगती है, क्योंकि यद्यपि दार्शनिक जगत् म श्रीमद्भगवद्गीता द्वारा तथा काव्य (कला) के क्षेत्र म भरत के नाट्यशास्त्र जैसे ग्रन्थो द्वारा चातुवण्य के पुराने आदश की पुन स्थापना सी की गई है, परन्तु यथाथत इनका उद्देश्य दोनों विचारधाराओं म वह समझौता कराना ही था जो व्यवहार

मे स्थायीरूप मे सफल न होने के कारण नई लहर को दबा न सका।

इस परिवर्तन का प्रभाव काव्यमात्र पर पड़ा प्रतीत होता है और नाटय को तो इसने पूर्णतया ही बदल दिया। अत नट, नर्तक तथा शैलूष आदि, जो वैदिक[1] काल मे पवित्र लोग समझे जाते थे, रामायण और महाभारत[2] में आकर गर्हित तथा आचारभ्रष्ट समझे जाने लगे। नाटय के वातावरण की यह विकृति निश्चित रूप से सूत्रकाल म प्रारम्भ हो गई थी क्योंकि नृत्य गीत, वाद्य आदि कौषीतकी ब्राह्मण[3] मे जहाँ आदरणीय एव पावन कलायें हैं वहाँ पारस्करगृह्यसूत्र[4] मे वे द्विजवर्णों के लिये सर्वथा त्याज्य समझी गई हैं। नाटय की यह दुरवस्था विद्वत्समाज (ब्राह्मणो) की अवहेलना का कारण तथा परिणाम दोनो रहे होंगे। वर्णवाद मे विश्वास रखने के कारण तत्कालीन विद्वत्समाज ने, नटो आदि के पतित और आचारभ्रष्ट समाज को ऊपर उठाकर अपने स्तर पर लाने की अपेक्षा उनसे पृथक् होना तथा उनके सार्वर्णिक काव्य या नाटय से पृथक् अपने लिये विशिष्ट काव्य या नाटय की सृष्टि करना अधिक अच्छा समझा। इसलिये जिस काव्य शब्द का प्रयोग कलामात्र के लिये होता था वह अब विद्वानो की कला के लिये सीमित होने पर उक्त अ हित नाट्यादि म विपरीत स हित काव्यनाटयादि होते होते साहित्य हो गया।

इस सहित काव्य या साहित्य के भी श्रव्य दृश्य तथा मिश्र नामक भेद ही बने रहे परन्तु इनके अन्तर्गत अब लिखित काव्य ही हो सकता था, क्योंकि मूर्ति सगीत चित्र तथा नाटय आदि तो निम्नवर्ग के गर्हित वातावरण म थे जिससे दूर रहना अधिक अच्छा समझा जाता था। श्रव्य काव्य म गद्य तथा पद्य दोनो का अन्तर्भाव था और मिश्र म दोनो का मिश्रण। दृश्य काव्य का क्षेत्र अब बहुत सीमित हो गया और उसके अन्तर्गत मूर्ति चित्र, स्थापत्य आदि का होना असम्भव हो गया जिससे केवल नाटय ही को अब दृश्य काव्य माना गया। यह दृश्य काव्य भी सभवत बहुत काल तक विद्वानो द्वारा उपेक्षित रहा परन्तु जैसा कि वात्स्यायन के कामसूत्र से पता चलता है लगभग चौथी या पाँचवीं शताब्दी ई० पू० म किसी न किसी प्रकार के सुरुचिपूर्ण तथा सहित श्रव्य काव्य का होना नागरिक जीवन के लिए आवश्यक माना जाने लगा था। इसी प्रवृत्ति के अनुसार, नाटयशास्त्र म भरत मुनि ने गीत

१ वा० स ३० ४ तै० ब्रा० ३ ४,२ कौ० ब्रा० २६,८
२ म० भा० १२ ३ १२ रा० २,६० १५ २,६६,२
३ २६ ५
४ २ ७,३

वाद्य, रूपक तथा अभिनय आदि को सुसंस्कृत रुचि तथा वैदिक सदाचार के अनुरूप बनाकर सहित श्रव्य और दृश्य काव्य परम्परा को पुनः प्रतिष्ठित किया परन्तु कालान्तर में विद्वद्वर्ग ने नाट्य के अन्य प्रकारों तथा अंगों को छोड़कर केवल रूपकों को ही अधिक अपनाया क्योंकि इसमें आदर्श लोक चरितों का चित्रण होने से इनके द्वारा सदाचार की पुष्टि के लिये अधिक अवसर मिल सकता था। अतएव श्रव्य काव्य परम्परा में एक रूपक परम्परा चल पड़ी जो वर्तमान युग तक निरन्तर चलती रही।

साहित्यवादी विद्वानों के हाथों में काव्य ने जब नया रूप पाया तो उसका केवल क्षेत्र ही सीमित नहीं हो गया, अपितु उसके परिमित कलेवर में बहने वाले रक्त को स्वस्थ तथा शुद्ध करने के लिये 'शल्य चिकित्सा' का भी पर्याप्त प्रयोग किया गया। ब्रह्मानन्दसहोदर रस को काव्य का लक्ष्य मानते हुए उन्होंने तद्विरोधी तत्त्वों को पूर्णतया निकाल फेंका। यही कारण है कि नाट्य के विभिन्न अंगों में से, भारतीय नाट्यशास्त्र में सभी के लिये वेदानुकूलता देने का प्रयत्न किये जाने पर भी, केवल रूपक ही अपनी स्थिति को अक्षुण्ण रख सका और रूपकों में भी उन्हीं प्रकारों का प्रचार अधिक हुआ जो सुरुचि, सदाचार तथा मर्यादा का निर्वाह भली प्रकार कर सकते थे। अतएव नाट्य शास्त्र में 'समवकार' आदि के लिये बहुत से 'वधकुटिलानि' वर्जित कर दिये गये और 'प्रहसन' में केवल 'लोकोपचारयुक्ता वार्ता' को ही स्थान दिया गया। इसी मर्यादावादी प्रवृत्ति के फलस्वरूप नाटक-नाटिकाओं के अतिरिक्त रूपक के अन्य प्रकारों को पनपने का अवसर कम मिला।

साहित्यवाद या मर्यादावाद की इस काट छाँट के होते हुए भी, काव्य ने अपने नये रूप में पुरानी सभी स्वस्थ प्रवृत्तियों को बनाए रखा। रस निष्पत्ति अन्तिम ध्येय होने के कारण, तदनुकूल गुणों तथा ध्वनियों का काव्य में होना पहले के समान ही चलता रहा। यही कारण है कि न केवल संस्कृत के पद्य-काव्यों में, अपितु गद्य-काव्यों में भी विषय तथा परिस्थिति के अनुकूल वर्ण ध्वनियों का प्रयोग करने का प्रयत्न किया जाता है, पद्य की संगीतात्मकता तथा नाटकों में गीत और वाद्य का प्रचुर प्रयोग भी इसीलिये बना रहा। नाट्य के सभी अंग नाटक में होने के कारण उसको रस निष्पत्ति के लिए सब से अधिक उपयुक्त समझा गया इसलिये संस्कृत में अन्य रूपकों की अपेक्षा नाटक ही अधिक लिखे गये।

काव्य की परिधि सीमित हो जाने से गद्य तथा पद्य को विकसित होने का अवसर मिला क्योंकि अब उन पर से नाट्य का अंकुश हट गया और

उसकी रचना स्वतन्त्र रूप से होने लगी। अब नाट्यशास्त्र में उल्लिखित चार साधारण अलङ्कारों के अतिरिक्त अन्य अलङ्कारों, वक्रोक्तियों एवं चमत्कारों का भी प्रयोग होने लगा। नाट्य के नियन्त्रण में रहते हुए, पद्य में कोई प्रबन्धात्मकता सम्भव नहीं थी, इस नियन्त्रण के शिथिल अथवा दूर होने पर ही उसमें नये-नये प्रबन्ध स्वरूपों की सृष्टि का द्वार खुल गया। अब पद्य केवल श्रव्य न रहा वह लिखी तथा पढ़ी भी जाती थी इसीलिये उसमें बुद्धितत्त्व के लिये अधिक अवकाश था जिसके फलस्वरूप उसमें बौद्धिक चमत्कारों की निरन्तर वृद्धि होती गई श्रम साध्या वक्रता विचित्रता क्लिष्टता अलंकारिता तथा कृत्रिमता बढ़ती गई। गद्य के लिए तो यह स्वतन्त्रता अत्यन्त लाभप्रद हुई। नाट्य के दासत्व में रहते हुए तो उसे काव्य रूप ग्रहण करने का अवसर ही न मिलता था, परन्तु अब उसने कथा कहानी, आख्यान, आख्यायिका आदि के रूप धारण किये और पद्य के सभी शृंगार सौष्ठव तथा शक्ति विभव उसमें आने लगे। साथ ही विद्वानों के हाथ में पड़कर जहाँ गद्य और पद्य काव्य को स्वतन्त्र विकास का अवसर मिला वहाँ उसमें बुद्धितत्त्व का प्राधान्य भी बढ़ता गया। इसका परिणाम यह हुआ कि कभी कभी बौद्धिक कलाबाजी को ही काव्य समझ लिया गया और रस निष्पत्ति का लक्ष्य केवल 'दम्भ' मात्र रह गया।



८

वेन, कुत्स और रस

पिछले अध्याय के अन्त म उल्लिखित वेन को कौषीतकी ब्राह्मण[1] म आत्मा माना गया है। वेन शब्द कामनार्थक 'वन्' धातु से निष्पन्न होने से (ऋ० १० ६४२ ऐ० १ २०, श० ७४,१,१६) आत्मा का भावनापक्ष ही प्रकट करता है। इस दृष्टि से वेन के दो रूप हैं—एक से तो वह हमारे अस्तित्व के हिरण्यय पक्ष (पक्षे हिरण्यये) मे आसीन है और दूसरे से वह हमारी प्रियता के रूपादि विभिन्न स्रोतों (प्रियस्य योनिषु) म प्रिय होकर विचरता[2] है। पहले रूप म वह विज्ञानमय कोश का सूक्ष्म गर्भ है जो ज्योति की जरायु से परिवेष्टित है और जिसको विप्र लोग केवल अपनी मतियों के द्वारा चाटते हैं (१० १२३, १) क्योंकि विप्र ही उसके इस रूप को जानते हैं और वे ही उस तक ऋत के द्वारा पहुंचते हैं (१०,१२३,४), यही वेन नाक (विज्ञानमय कोश) म स्थित हिरण्यपक्ष सुपर्ण है जिसको हम हृदय स कामना करते हुए (हृदा वनन्त) ही अच्छी तरह देख पाते हैं (१०,१२३ ६) मनोमय स लेकर अन्नमय कोश तक सूक्ष्म शरीर से लेकर स्थूल शरीर तक वह अनेक प्रिय अनुभूतियों और अभिव्यक्तियों (प्रियाणि) को जन्म देता है और नाना प्रकार के आयुधों (आध्यात्मिक एवं भौतिक शक्तियों) का प्रयोग करता है परन्तु विज्ञानमय (नाक जो कि तृतीय रजस है) म उक्त अर्वाक् आयुधानि और प्रियाणि प्रत्यक् आयुधानि और प्रियाणि म परिणत होकर वेन द्वारा धारण किये जाते हैं और तब वह देखने म स्व के समान सुन्दर रूप (अत्क) धारण (१०,१२३,७) कर

---

१ अ मा ५ वेन (८ ४)

२ चरत्प्रियस्य योनिषु प्रिय सन्त्सीदन् पक्षे हिरण्यये (१०,१२३,५)

जाता है और अन्ततोगत्वा समस्त प्रिय अनुभूतियां (प्रियाणि) के नानात्व को अपनी शुभ्र ज्योति से मण्डित करता हुआ वह भानु एक बूंद (द्रप्स) होकर समुद्र (विज्ञानमय की अद्वैत सत्ता) में समाहित (१० १२३,८) हो जाता है।

समुद्र की मधुमान ऊर्मि—इच्छा, ज्ञान और क्रिया शक्तियां के त्रिविध रूप को मयूराण्डरसवत् संपृक्त करनेवाले विज्ञानमय आत्मा की पराशक्ति को वेद में जब गोरूप में कल्पना की गई तो उसके सारभूत रस को घृत नाम दिया गया जिसे पणियों ने चुराकर त्रिविधरूप में छिपाया और फलत वृत्रवध के पश्चात् इन्द्र के द्वारा त्रिविध रूप में वेन (सोम) सूर्य (अग्नि वैश्वानर) तथा इन्द्रिय रस उत्पन्न किया[1] जाता है। इसी को ऊपर सौम्य रस कृत्स्यरस तथा इन्द्रिय रस भी कहा जा चुका है और जब स्थूल एवं सूक्ष्म देह में इन्हीं तीनों रसों के फलस्वरूप होने वाली नाना प्रकार की भावनाओं क्रियाओं और ज्ञान प्रक्रियाओं की नदियों अथवा आप के रूप में कल्पना की गई तो विज्ञानमय कोश को उनका स्रोत होने के कारण पर्जन्य तथा उनका गन्तव्य होने के कारण समुद्र भी कहा गया। अत समुद्र अथवा हृद्य समुद्र (४ ५८ १ ५) से उठने वाली एक मधुमान ऊर्मि अन्ततोगत्वा शतधारायें घृतधारायें होकर गतिशील होती हैं जिनके मध्य में हिरण्यय (ज्ञानदमय) पुरुषरूपी हिरण्यय वेतस (स्वर्णिम बेंत) केवल साक्षीमात्र हो कर देखता है (४,५८ ५) जबकि आंतरिक हृदय और मन द्वारा पूयमान (अन्तर्हृदा मनसा पूयमाना) घृत की ऊर्मियां प्रीणयित्री सरिताओं की भांति (४ ५८ ६) सम्यक प्रकार से स्रवण करती हैं। यहां यह कहने की आवश्यकता नहीं कि यही विज्ञानमयकोशरूपी समुद्र वह स्थान है जहां सोम और यज्ञ का प्रथम सेवन होता है (४ ५८ ६) और सद्योजात जातवेदस अग्नि का घृत की धारायें समिधा बनकर मुस्कराती हुई कल्याणी समना युवतियों के समान (४,५८ ८) अथवा आभूषण पहने हुई कन्याओं के समान (४ ५८ ९) प्राप्त होती हैं।

इसीलिए प्रकाशित यज्ञ, कुत्स पुरुकुत्स और उशना काव्य—हमारे अन्तस्तल में प्रवाहित होनेवाली ये धारायें तभी सार्थक सिद्ध होंगी जब ये मधुमती होकर बहें अत अन्तर्देवता में विनय है कि वह हमारे इस यज्ञ का प्रणयन करे (इम यज्ञं नयत देवता न) और घृत की धारायें मधुमती होकर (४,५८ १०) प्रवाहित हों जिससे अन्ततोगत्वा उस मधुमती ऊर्मि का आस्वादन हो सके जो

---

1 त्रिधा हितं पणिभिर्गुह्यमानं गवि देवासो घृतमन्वविन्दन्।
इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वधया निष्टतक्षु ॥ (४,५८,४)

आप के निगमनस्थान (अनीक) रूपी इन्द्रवृत्रसंग्राम (समिथे) में हृदयरूपी समुद्र (अन्तःसमुद्रे हृदि) में और जीवन में (आयुषि) सर्वत्र लाया गया (आभृत), तथा जिसका यह सम्पूर्ण रूप (विश्व भुवन) उस देवता के 'धाम' (आनन्दमय) में अधिष्ठित है (४.५८.११)[१]। उक्त विज्ञानमयकोशस्थ संग्राम रूपी आप के निगमनस्थान को ही अन्यत्र वेन का निगमनस्थान (योनि) कहा है जिसको खोलते ही इन्द्र मन सप्तशीर्षण्य प्राण तथा अन्नमय की त्वक् इन्द्रिय में नवधा विभक्त होकर अपना पराक्रम दिखाने योग्य 'नोधा' हो जाता है (१.६१.१४), जिसके फलस्वरूप द्यौ (मनोमय) और पृथिवी (स्थूल देह) काँप उठते हैं। 'नोधा' के उक्त नौ में वन के उक्त निगमनस्थान को जोड़ देने में विज्ञानमय से लेकर मनोमय प्राणमय और अन्नमय तक फैला हुआ दस निगमनस्थानोंवाला एक यन्न (दश योनिम् यन्त्र) हो जाता है जिसमें इन्द्र को मधुपान करने के लिये आहूत किया जाता[२] है अथवा गोगृह (गो पस्त्यम्) को सूर्य की प्राप्तिहेतु (सूर्याय) व्यक्त करने के लिए कहा जाता[३] है। एक दूसरी दृष्टि से उक्त चार कोशों में आबद्ध जीवात्मा उक्त दश निगमनस्थानों वाला (दशयोनि) तथा दश इन्द्रियों की दशमायाओं वाला (दशमाय) वेतम[४] है जिसको मुक्त करने के लिए इन्द्र से याचना[५] की जाती है। पिछले अध्याय में उल्लिखित पूर्व और नव्य परावत और अर्वावत् के भेद से विज्ञानमय कोश में उक्त पाशबद्ध जीव को 'दशयोनि कवि' कुत्स तथा मनोमय में पुरुकुत्स कहा गया है जिसके लिये सूर्यप्राप्ति करने में (अकसातौ सूयस्य सातौ) इन्द्र को सात अथवा समस्त (सप्तपुर ६.२०.१० विश्वासा पुरा ६.२०,३) पुरों का विदीर्ण करना पड़ता है। अन्यत्र प्रथम को उशना[६] कवि तथा दूसरे को प्रथम से उत्पन्न[७] होने के कारण उशना काव्य (कवि का पुत्र) भी कहा गया है। हिरण्मय (आनन्दमय) कोश का पुरुष विज्ञानमय के उशना कवि का भी पिता है (१.१६४.१६), अत उसको पिता का भी पिता अथवा महापिता कहा गया है। मनोमय का उशना काव्य अथवा पुरुकुत्स मनोमय प्राणमय और अन्नमय के कुल मिलाकर उक्त नौ स्थानों में विभक्त होने से नववास्त्व

---

१ पिब यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हयन् यज्ञ सधमादे दशोणिम् (१०,९६ १२)

२ अपस्त्यनसुर हयन गोरा विकृधि हरये सूर्याय (१० ९६,११)

इससे विपरीत देखिये ऊपर 'हिरण्यय वेतम' जो साची मात्र है।

४ ऋ० ६,२०,८

५ ऋ० ४,२६,१ ६,८७,३ १ ६०,७

६ ऋ० १ ५१ ११ ८,२३ [redacted] ८ ८,११

अथवा नाना (पुरु) प्रकार की कुत्साओं से युक्त होने के कारण पुरुकुत्स कहलाता है, अभीष्ट यही है कि नव्य इन्द्र की सहायता से समस्त पूरव (पुरो मे रहनेवाली शक्तियां) कुत्साओं को छोड नाना यत्नो से (यन) स्तवन कर उठें जिसके फलस्वरूप सप्त पुरो को दग्ध कर दिया जाय, नव्य इन्द्र, पूर्व्य इन्द्र म परिणत होकर असुर प्रभाव से पडे उनको काव्य के लिये, बृहत् वास-स्थान बनाता हुआ (वरिवस्यन्) वृद्धि को प्राप्त करे तथा नववास्त्व पुरुकुत्स अपने महान् पिता के लिये मनुदेय हो जाय (६ २०,१० ११)।

ओणिद्वय, अग्नि, इन्द्र और सोम—उक्त दशओणि यज्ञ म पूर्व्य-नव्य भेद की भी कल्पना की गई है। सोम इन दोनो स दो ओणियो (निगमनस्थानो) के भी, धारणकर्ता (६, ६५, ११) तथा रस ओणियो का पुत्र (६ १०१, १४), कहा गया है। यह यज्ञ तभी तक देवयन रहता है जब तक यहाँ (६, १६, १) वृत्रहण इन्द्र अग्नि सोम के पराक्रम स स्व, प्रकाश एव उरु अन्तरिक्ष हो और सोम हवि से यजन होता रहे परन्तु मानवीय अस्तित्व म देव और अदेव, शिव और अशिव तथा यज्ञीय एव अयज्ञिय दोनो रूप हैं (ऋ० १० १२४, २ ३) जिनम से यदि दूसरे का प्रभाव अधिक हो जाता है, तो मानवीय अस्तित्व रूपी राष्ट्र पर असुरो का साम्राज्य हो जाता है अग्नि, सोम वरुण आदि देव पदच्युत हो जाते हैं (१० १२४ ४) जीवात्मा कुत्स या पुरुकुत्स हो जाता है और चिरस्थायी दीर्घ तमस (ज्योक दीर्घतम) म हमारा देवरूप आत्मा प्रसुप्त हो जाता है (१०, १२४ १) इसके विपरीत जब प्रथम का प्रभाव बढता है तो ऋत के अनेक धाम बनने लगते हैं (१०, १२४, ३), असुरो के माया हीन होने पर वरुण देव ऋत और अनृत का विवचन करता हुआ मानवीय अस्तित्व रूपी राष्ट्र का आधिपत्य (१० १२४ ५) ग्रहण कर लेता है और पुन वृत्रवध के फलस्वरूप स्व धाम, प्रकाश उरु, अन्तरिक्ष तथा सोमयज्ञ आदि सभी प्राप्त हो जाते हैं। एक को देवराज्य कह सकते हैं तो दूसरे को असुरराज्य दोनो म एक एक आवरण है—प्रथम म वरुण है जिसका आवरण ज्योतिर्मय है और दूसरे म वृत्र है जिसका आवरण तमोमय प्रतीत होता है। दोनो ही के आवरण के लिए ऋग्वेद म वर्ण शब्द प्रयुक्त होता है अत जब इन्द्र वृत्र वध द्वारा उसके दास वर्ण को गुहा म बन्द (ऋ० २, १२, ४) कर देता है,

---

१ ता० ब्रा० ७ ५, २० जै० उ० २, ७ २

२ इन्द्र स्वरिन्मिन्वन्न वाममय प्रकाश उवन्तरिक्षम्। इनाव वज्रं निरेहि सोम हवि स्वा सन्त हविषा यजाम। (१० १२४, ६)

तो आप या नदियाँ (इच्छा ज्ञान, क्रिया की धारायें) वरुण वर्ण को धारण करके क्षेमकरी बन जाती हैं (१०, १२४, ७), परन्तु समय पलटता है और वृत्र की विजय होने से मानवीय व्यक्तित्व 'अदेव' हो जाता है तो हमारा देवरूप आत्मा 'गुहा' में चला जाता है (१०, १२४, २) और हमारा अशिव रूप आत्मा 'शिव' (गुहा) को छोडकर पुनः जीवन की शुष्क अरणी में प्रवेश (१० १२४ २) करता है। अशिव रूप आत्मा का पिता 'असुर' है (१० १२४ ३) जबकि शिव रूप का पिता देव प्रतीत होता है। आत्मा के ये दोनों पक्ष सरूपा इन्द्रकुत्स (४ १६, १०) एक ही रथ पर विराजमान (सरथ) होते हुए (४, १६, ११) कहे जाते हैं परन्तु यह तभी होता है जब अशिवरूप आत्मा अपने असुर पिता को छोडकर इन्द्र का वरण करता है (१०, १२४, ४) और अयज्ञिय भाग से यज्ञिय भाग (१०, १२४, ३) में आना पसन्द करता है पाशबद्ध बलिपशु से स्वतन्त्र यजमान बनने की कामना करता हुआ कह उठता[1] है कि 'हमारे भीतर एक सुस्तुति, एक ज्ञानरश्मिरूप गोसमूह को प्रेरित कर कल्याणी सम्पत्ति का विधान कर दो। हमारा देवता हमारे इस यज्ञ का प्रणयन करे और घृत की मधुमती धारायें प्रवाहित हो उठें।

आदि कवि और आदि कविता—वस्तुतः यह कामना उस ज्योति की याचना है जिसे स्वः, अर्क, सूर्य द्युम्न आदि नाम दिया गया है और जिसके कारण उक्त यज्ञ स्वर्षाति, अर्कसाति, सूर्यसाति द्युम्नहूति आदि नाम ग्रहण करता है अतः यह एक ऐसी कामना है जिससे कुत्स (मानवात्मा का अशिव पक्ष) कामनाहीन (निकाम) होकर इन्द्र का सखा ही नहीं 'सरूप' हो जाता है (४, १६ १०) क्योंकि इन्द्र मानव मन (नमण) बनकर मायावान् अब्रह्मा दस्यु' (वृत्र) को (४ १६, ९) नष्ट कर देता है। वस्तुतः यह पीडित जीवात्मा का आर्तनाद है जिसे शुनःशेप, त्रित, पुरुकुत्स आदि के स्वर में वरुण बृहस्पति, इन्द्र आदि देवता सुनते हैं। आत्मा का यह शोक जब श्लोकत्व ग्रहण करने के लिए मचल उठता है, तभी वह कुत्स 'कवि' बन जाता है जिसके लिए मानव मन (नमण) इन्द्र मायावी दस्यु वृत्र का वध करके, मानव-जीवन को सूर्य साति यज्ञ में परिणत (४, १६ ९) कर देता है। यह कवि अपनी कवित्व शक्ति के द्वारा (कवि कवित्वा दिवि रूपमासजत) प्रतिमानस द्युलोक में जो रूप सजाता सँभालता है वही इच्छा ज्ञान, क्रिया अथवा सोम्यरस, इन्द्रियरस

---

१ अभ्यर्षत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त।
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत्पवन्ते।

(ऋ० ४ ५८,१०)

तथा नृत्यरत के रूप में वरुण के 'सुचय मिन्धव' अथवा दिव्य श्राप बनकर क्षेमविधान करते हुए सक्रिय हो जाते हैं जिनके भीतर एक 'सपुन हंस' बनकर रहते हुए इन्द्र को केवल 'मनीषा' के द्वारा ही जाना जा सकता है (१०, १२४, ७ ६)।

आदि कवि वाल्मीकि—यही कुत्स के कवि बनने की कथा कुत्सितकर्मा वाल्मीक के कवि होने में भी देखी जा सकती है। भारतीय परम्परा के अनुसार वाल्मीकि (वाल्मीक) आदि कवि माने जाते हैं। कहा जाता है कि वे ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए थे परन्तु बचपन में ही उन्हें माता पिता ने त्याग दिया था। कुछ पर्वतीय लुटेरों ने उन्हें शरण दी और लूटपाट का पेशा सिखाया जिसमें वे जीवन निर्वाह करने लगे। एक दिन उन्होंने एक साधु को देखा। उसके पास जाते ही उन्होंने कहा—जो कुछ हो वह रख दो नहीं तो जीवन से हाथ धोना पड़ेगा। साधु ने वाल्मीक को यह जानने के लिए घर भेजा कि उनके अन्य सम्बन्धी इन कुकर्मों में साथी हैं या नहीं। जब वह अपने घर पहुँचे तो उनका भ्रम जाता रहा क्योंकि स्त्री और बच्चे तक उनके कुकर्मों में साथ देने के लिए तैयार न थे। साधु ने उन्हें उलटा राम नाम जपने का उपदेश दिया और स्वयं वहाँ से चला गया। वर्षों तक वे राम का नाम जपते रहे। बैठे-बैठे उनके शरीर पर एक भारी बाँबी बन गई। अन्त में वहाँ साधु आया और उसने वल्मीक (बाँबी) में से उन्हें निकाला। वल्मीक में से निकलने के कारण उनका नाम वाल्मीकि हो गया और वे बड़े भारी ऋषि हो गए। एक दिन जब वे स्नान कर रहे थे तो उन्होंने देखा कि एक निषाद ने क्रौञ्चमिथुन में से एक को मार डाला है। ऋषि के हृदय में मृत पक्षी के लिए करुणा उमड़ पड़ी। घातक पर क्रोध करके उन्होंने उसे शाप दिया। यह शाप अनायास ही एक श्लोक के रूप में उनके मुँह से निकल पड़ा। यह सबसे पहली कविता थी। ब्रह्मा जी के कहने से तब महर्षि वाल्मीकि ने रामायण नामक एक काव्य लिखा।

यह एक छोटी सी कथा है जो आदि कवि तथा आदि कविता के विषय में कही जाती है। साधु सन्तों के सम्बन्ध में अलौकिक घटनाओं को सुनने के हम अभ्यस्त हैं अतः वाल्मीकि के जीवन की घटनाओं पर हम भले ही विश्वास कर लें परन्तु यह विश्वास करना कि वाल्मीकि से पहले कविता ही नहीं थी और सबसे पहले उन्होंने ही कविता को मवव निए सम्भव नहीं। हम देखते हैं कि रामायण के बहुत पहले से ही एक विशाल वैदिक साहित्य विद्यमान था। स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार यदि चारों संहिताओं को अपौरुषेय माना जाय तो भी तैत्तरीय संहिता, ब्राह्मण आरण्यक तथा उपनिषद साहित्य में जो

कवित्वपूर्ण स्थल भरे पड़े हैं उनको देखकर रामायणकार को आदि कवि नहीं माना जा सकता। यदि सारे वैदिक साहित्य को ही अपौरुषेय मान लें तब भी भाषा तथा साहित्य के क्रमिक विकास में विश्वास रखने वाला वर्तमान युग यह कभी नहीं मान सकता कि रामायण जैसे उत्कृष्ट काव्य की सृष्टि एकायक बिना किसी पूर्व परम्परा के हो गई। थोड़ी देर के लिये यह भी मान लें कि अलौकिक शक्ति सम्पन्न ऋषियों के लिये इस प्रकार के चमत्कार कर दिखाना कोई असम्भव नहीं है, तो भी यह कैसे सम्भव है कि उससे पहले मनुष्य हृदय रखते हुए भी अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति के लिए किसी-न किसी प्रकार के काव्य का निर्माण न करता हो।

जब रसात्मकता कविता का प्रधान गुण है और यह सचमुच 'ब्रह्मास्वाद-सहोदर' है तो कविता का प्रारम्भ तभी से मानना पड़ेगा जब से मनुष्य में रसानुभूति की शक्ति है क्योंकि वह अनुभूति की अभिव्यक्ति किये बिना नहीं रह सकता चाहे वह अभिव्यक्ति गद्य में हो या पद्य में अनुष्टुप में हो या त्रिष्टुप में। रेडियो रेल तार आदि वस्तुओं के विषय में कहा जा सकता है कि उनका जन्म अमुक देश में, अमुक काल में और अमुक व्यक्ति के द्वारा हुआ क्योंकि ये दृश्य मूला वस्तुएँ हैं जिनका समाज ने अपने जीवन-काल में न केवल प्रारम्भ और विकास देखा है अपितु उनका पूर्व अभाव भी देखा है। परन्तु कविता तो अनुभूति मूलक होने से इस पदार्थ-वर्ग में नहीं आ सकती वह तो इच्छा ज्ञान क्रिया भाषण प्राण मन आदि तत्त्वों के वर्ग में आती है जिनका व्यक्ति तथा समाज के साथ अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है और जो किसी न किसी रूप में तब से है जबसे व्यक्ति या समाज का अस्तित्व है। इसलिये समाज अथवा भाषण भाषा आदि सामाजिक सम्पत्तियों के इतिहास में कविता का प्रारम्भ कब और किस के द्वारा हुआ यह बतलाना उतना ही असम्भव है जितना प्राण, मन अथवा समाज आदि के उत्पत्तिकाल को बतलाना।

परन्तु इससे यह अभिप्राय नहीं कि आदि कवि तथा आदि कविता के विषय में जो परम्परागत कथा चली आई है वह निरर्थक है। वस्तुतः इतिहास तथा काल के विषय में हमने जो दूषित धारणा बना रखी है उसके कारण हम उसे समझ ही नहीं पाते। हमने समझ रखा है कि पदार्थ विज्ञान के जगत् के अतिरिक्त कोई जगत् ही नहीं और न उसके प्रेरक काल से भिन्न कोई काल। यथार्थ में जैसे पिण्डाण्ड स्थूल शरीर के अन्तर्गत आने वाले अन्नरसमय कोश तथा प्राणमय कोश तक ही समाप्त नहीं हो जाता उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी केवल पिण्डात्मक, रसात्मक, वायव्य तथा वैद्युत् पदार्थों से निर्मित स्थूल जगत्

तक ही सीमित नहीं है। स्थूल शरीर एवं स्थूल जगत् के परे सूक्ष्म शरीर एवं सूक्ष्म जगत् भी है जिसको 'मनोमयकोश' कहा जाता है और जिसमें उत्पन्न होकर काल स्थूल जगत् में क्रीडा कर रहा है। मनोमय कोश में भी परे 'विज्ञानमयकोश' है जिसमें कारण शरीर और कारण जगत् आ जाते हैं। इसी कोश में महाकाल' की क्रीडा दिखाई पडती है जो मनोमय कोश में सुविकसित होकर स्थूल शरीर तथा स्थूल-जगत् में काल का रूप धारण कर लेता है। बहुत-सी वस्तुएं जो हम स्थूल जगत में अनन्त और अनादि सी दिखलाई पडती है वास्तव में इस कारण जगत तथा महाकाल में सान्त और सादि हैं। यहीं ही रसानुभूति तथा तज्जन्य कविता का आदि भी हम देखना चाहिए।

अतः आदि-कविता की उत्पत्ति किसी व्यक्ति विशेष में न मानकर जीव में माननी पडेगी। जीव ब्राह्मण अथवा ब्रह्म के कुल का है परन्तु पितृ वियुक्त होकर इस शरीर में भटकता है। शरीर में अनेक पर्व (सयुक्त भाग) हैं अतः उन आध्यात्मिक रूपकों में पर्वत (मू० पर्ववत) भी कहा जाता है। इसी पर्वत पर रहने वाले काम क्रोध आदि लुटेरे ही उस ब्राह्मण सन्तान को अपनाते है और उसे अपना लूटपाट का पेशा सिखलाते हैं। अन्त में परमसाधु परमेश्वर की कृपा से उसे ज्ञान होता है कि जिस माया तथा तज्जनित विषयों के लिये वह काम क्रोधादि लुटेरों का कुत्सित पेशा करता है वे भी उसका साथ देने के लिए उद्यत नहीं। इस ज्ञान से उसे वैराग्य उत्पन्न होता है और सुमार्ग पर चलने की तीव्र इच्छा जाग पडती है। साधु उसको उल्टा रामनाम का उपदेश करता है जिसके द्वारा वह ब्रह्म के समान हो जाता है। यही महर्षि वाल्मीकि है जिनके विषय में तुलसीदास जी ने कहा है—

उल्टा नाम जपत जग जाना। बाल्मीक भए ब्रह्म समाना॥

परन्तु ब्रह्म समान होने से पहले उन्हें स्थूल शरीर तथा सूक्ष्म शरीर की विशाल वल्मीक (बांबी) को हटाना पडता है तब कहीं वे वाल्मीक होकर विज्ञानमय कोश या कारण शरीर में पहुंच कर उत्तम गति को पाते हैं। ब्रह्म समानता को ही रस के प्रसंग में ब्रह्म सहोदरता कहा गया है और इसी को प्राप्त करके तपोयुक्त जीव आनन्द मय-कोश की रामायण को समझना अनुभव करता है और श्लोकबद्ध करता है और श्लोकबद्ध करने में समर्थ होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है विज्ञानमय कोश में ही 'मधुमती भूमिका' है और वहीं पहुंचकर जीव यथार्थ 'कवि' कहलाता है।

यही आदि कवि की अवस्था है। इस अवस्था तक पहुंचे हुए योगी कवि में द्वैत भाव नहीं रह जाता। इसमें नीचे स्थूल तथा सूक्ष्म शरीर में जीव

तथा माया आलिंगनबद्ध-से (सपरिष्वक्तौ इव) वहे जाते थे, उन "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" में से एक मिट जाता है और केवल 'अन्यदिव' की अनुभूति मात्र रह जाती है—"यत्रवाऽन्यदिव स्यात्तत्राऽन्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यज्जिघ्रेदन्योऽन्यद्रसयेदन्योऽन्यत्स्पृशेदन्योऽन्यद्विजानीयात् ।"[1] इस 'अन्यदिव' की अनुभूति यथार्थ 'द्वैत' नहीं है यह तो 'अहंकार' मात्र है जिसमें 'स्व' 'इदम्' रूप में रहता है —

"अथातोऽहंकारादेशएवाहमेवाधस्तादहमुपरिष्टादहं पश्चादहं पुरस्तादहं दक्षिणतोऽहमुत्तरतोऽहमेवेदं सर्वमिति । स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन्नात्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्द स्वराट् ।"[2]

आदिकवि के रूपक में, इसी जोड़े को क्रौंच मिथुन कहा गया है जिसके एक के वध होने पर ऋषि वाल्मीकि द्वारा आदि कविता को जन्म मिलता है। क्रौंच शब्द ध्वन्यनुकरण मूलक है और जिस पक्षि विशेष को यह नाम दिया गया है वह शब्द भी ऐसा ही करता है। योगी भी ध्यानावस्था में अनेक प्रकार के शब्द सुनता हुआ एक ऐसे शब्द पर पहुँचता है जिसको ह्रीं, क्रीं, क्रौंच, आदि कहा गया है और जो सुनने में कौंच रव सा लगता है। अतः इस अवस्था में 'जीवमाया' को क्रौंच मिथुन कहना पूर्णतया उचित है। इसका वध करने के लिए योगी की दोनों भृकुटियों से जो एक धनुष बनता है उसको अपनाना पड़ता है इस धनुष में प्रत्यञ्चा नहीं होती (बु० क० जाम परच नहीं रे—कबीर)। नासिकाग्र से लेकर दोनों भृकुटियों के बीच में स्थित ध्यान-बिन्दु की ओर चित्त एकाग्र करते रहने को शर-सधान करना कहते हैं। स्थूल-शरीर में क्रीडा करने वाला मन रूपी व्याध इसी शर सन्धान द्वारा एक क्रौंच पक्षी को मार गिराता है जिसके फलस्वरूप ऋषि द्वारा शापित होकर वह (मन) सदैव अशान्त तथा अस्थिर रहता है।

इस शर-सधान द्वारा लक्ष्य वेध तभी हो सकता है जब रामनाम का उलटा जप कर लिया जाय। उलटे राम नाम का अर्थ केवल 'मरा' समझा जाता है परन्तु वस्तुतः इसका अर्थ इससे अधिक है। वास्तव में जिस शब्द से किसी के स्व की अभिव्यक्ति होती है वही उसका नाम है अतः सामान्यतः आत्मा की इन सभी अभिव्यक्तियों को नाम कहा जा सकता है। इस नाम का सीधा क्रम तो आनन्दमय से अन्नमय की ओर जाना है और अन्नमय से आनन्दमय की अभिव्यक्ति की ओर जाने का उल्टा जप कहा जाता है। जो

---

1. बृ० उ० ४ ३ ३१
2. वही

जीव स्थूल-जगत् के झंझटों में फंसा है उसको ऊपर उठने का एक यही मार्ग है कि वह इस उलटे नाम का सहारा लेकर शनै शनै स्थूल-जगत् से सूक्ष्म तथा कारण जगत् की ओर अग्रसर हो। राम का उलटा 'मरा' अथवा 'सोऽहं' का उलटा 'हंसो' जपने का यही अर्थ है। सीधे नाम में शक्तिमान् से शक्ति का प्रवाह होता है परन्तु उलटे में शक्ति से शक्तिमान् की ओर जाना पड़ता है। इसलिये ब्रह्म के नाम के पहले उसकी शक्ति का नाम रख देने से भी उलटे नाम का सिद्धान्त सिद्ध हो जाता है। अतः सीताराम, राधाकृष्ण, पार्वती परमेश्वर आदि का भी जप किया जा सकता है। परन्तु जप में नाम का उच्चारण मात्र पर्याप्त नहीं, नामोच्चारण तो केवल संयम, ध्यान, समाधि द्वारा स्थूल जगत् से ऊपर उठने का सहारा मात्र है।

आदि कवि सम्बन्धी कथा की इस व्याख्या से स्पष्ट है कि इसमें भारतीय साहित्य का देशकालगत इतिहास नहीं मिलता। इस कथा से यदि रामायणकार के विषय में हमें कुछ भी पता चलता है तो यही कि रामायण के लेखक परम योगी थे और रामायण में जो कुछ लिखा है वह एक साधारण कथामात्र नहीं है उसमें उनकी उच्च आध्यात्मिक अनुभूति की अभिव्यक्ति भी है। बहुत सम्भव है कि रामायणकार का नाम पहले से ही वाल्मीक रहा हो जिससे वल्मीक (बाँबी) के रूपक में उसकी संगति बैठ गई परन्तु स्थूल जगत् के आवरण को बाँबी के रूपक द्वारा प्रकट करने की परिपाटी च्यवन कथा में भी मिलती है और सम्भवतः बहुत पुरानी है।

काव्य प्रेरणा—अतः आदि कवि (प्राचेतस) की इस कथा में वस्तुतः काव्य की मूल प्रेरक शक्ति के व्यक्तीकरण का आलंकारिक वर्णन है। इस मत की पुष्टि वाल्मीकि के दूसरे नाम 'प्राचेतस' से भी होती है—प्राचेतस का अर्थ है प्रचेतस का पुत्र और प्रचेतस शब्द जैसा प्रारम्भ में ही कहा गया है आनन्दमय कोश के ब्रह्म के लिये प्रयुक्त होता है, जिसके लिये श्रीमद्भगवद्गीता में 'कवि पुराण' आदि कहा गया है। ऋग्वेद के अनुसार यह प्रचेतस[1] अद्रुत[2], वीतरागदेव[3] अमर्त्य[4] तथा अनामयकोश के लिये वरण्य तथा ध्येय[4] है जिसको देवलोग (इन्द्रियादि की शक्तियाँ) द्रुत रूप में मर्त्यों (क्षणभंगुर इन्द्रियार्थों) में ऐसे विभक्त कर लेते हैं जैसे अन्न के भाग को और इस अवस्था में उसके लिये असुर कहकर सम्बोधित किया जाता है।[5] जो बात वहाँ प्रचेतस के लिये

---

१ ३ २९,५ — २ ४,१,१

३ ८ १०२,१८ — ४ १,४४,११ ८,१०२,१८

५ ८,८४,२ ; १०,६ ; ४,१,३ ; ७,१६ १२ ; ८ १०२ १४

कही गई है, वही आनन्दमय ब्रह्म के लिये भी कही जा सकती है और स्थूल शरीर रूपी पवत पर असुरत्व प्रधान जीवन व्यतीत करते हुए वाल्मीक पर भी वही लागू होती है, क्योंकि व प्राचेतस (प्रचेतस के पुत्र) तथा ब्राह्मण (ब्रह्मकुलोद्भव) हैं। अत प्राचेतस अथवा वाल्मीक नामी आदि कवि के आख्यान में यही अभिप्रेत समझना चाहिये कि आनन्दमय ब्रह्म ही मूल प्रेरक शक्ति है और वह अजर, अमर, तथा अव्यक्त होते हुए भी स्थूल शरीर की नश्वर अभिव्यक्तियों म व्यक्त होता है। जसा कि ऊपर देख चुके हैं अव्यक्त की अभिव्यक्ति प्रारम्भ होते ही ब्रह्म माया, शक्तिमान शक्ति कवि-वाक आदि का द्वैत प्रारम्भ हो जाता है, इसीलिए 'प्रचेतस की अभिव्यक्ति भी यहा द्वैत पूण बतलाई गई है।

स्फोटवाद—मूल प्रेरक शक्ति की अभिव्यक्ति के विषय म यही मत आगे चलकर स्फोटवाद के नाम से चला जिसका उपयोग काव्यशास्त्र' में भी ध्वनि' के प्रसग में किया है। हमारे मुख से जो वैखरी वाणी निकलती है उसकी इकाई वाक्य है, जो अनेक तदनुरूप भाषण ध्वनियों अथवा वर्णों का आवरण धारणा करके व्यक्त होता है (वाक्यपदीय ७१ ७३ व्या० म० वृ० २८ ४५)। वाक्य की उत्पत्ति अन्ततोगत्वा स्फोटात्मा से होती है जो ध्वनि द्वारा व्यक्त होता है और नित्य तथा अभेद्य 'वाचक' (ध्वनिव्यग्य नित्य अक्रम) है। यथाथ म स्फोट एक और अद्वैत है परन्तु उपाधि (जिसको नाद, ध्वनि या आत्माभिव्यक्ति की शक्ति अथवा वाक कहते हैं) के प्रभाव से अनेक भाषण ध्वनियों के रूप में व्यक्त होना प्रतीत होता[1] है परन्तु वास्तव म अनेकता तो व्याकृता ध्वनि' म है न कि स्फोटात्मा[2] म। आत्मा म नाद की उत्पत्ति होती है, जिसे व्याकृता ध्वनि या केवल ध्वनि[3] कहते हैं जो बुद्धि, प्राण आदि म होती हुई स्थूल अंगों द्वारा व्यक्त होती है —

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेद प्रकाशते॥ (वा० प० १ ११७)

वास्तविक विकार इसी नाद या वाक म होता है और इसी से आवृत होने पर अविकारी स्फोटात्मा भी विकारी प्रतीत[4] होता है। अत सूत सहिता स्फोटात्मा

---

१ यदन्त शब्दतत्व तु नादैरेक प्रकाशितम्। यमाहुरपर शब्द तस्य वाक्य तथैकता॥

२ स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिन। ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेद प्रचक्षते॥ (वा० प० १ ७७,

३ शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदं तु वैकृता। ध्वनय समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्नभिद्यते॥ (वा० प० १ ७८)

४ स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु। प्राकृतस्य ध्वने काल शब्दस्येत्युपचर्यते॥

को प्रणव या ओंकार के नाम से दो प्रकार का बतलाती है—एक पर या ब्रह्म रूप दूसरा अपर या शब्द रूप[1]। शब्द रूप स्फोट या प्रणव ही नाद या वाक से युक्त होता है और इच्छा, ज्ञान क्रिया की दृष्टि से विविध रूप में व्यक्त होता हुआ नाना वर्णों की सृष्टि करता है —

> शृणोति य इमं स्फोटं सुप्ते श्रोत्रे च शून्यदृक् ।
> येन वाग् व्यज्यते यस्य व्यक्तिराकाश आत्मनः ॥
> स्वधाम्नो ब्राह्मणः साक्षाद्वाचकः परमात्मनः ।
> स सर्वमन्त्रोपनिषद् वेदबीजं सनातनम् ॥
> तस्य ह्यासन् त्रयोवर्णा अकाराद्या भृगूद्वह ।
> धार्यन्ते यैस्त्रयो भावा गुणनामार्थवृत्तयः ।
> ततोऽक्षरसमाम्नायमसृजद्भगवानजः ।
> अन्तस्थोष्मस्वरस्पर्शह्रस्वदीर्घादि लक्षणम् ॥

नाद, अनाहतनाद तथा महानाद—शैवागम के अनुसार सच्चिदानन्द शिव से शक्ति, शक्ति से कारणनाद तथा नाद से बिन्दु उत्पन्न होता है (आसीच्छक्तिस्ततो नादो नादाद्बिन्दु समुद्भवः) यहाँ पर नाद को 'महानाद' कहा जाता है और शब्दप्रकरण के अनुसार बिन्दु को अनाहतनाद कहा जाता है (बिन्दुरेव समाख्यातो व्योमनाहतमित्यपि)। इसी अनाहत नाद या बिन्दु से 'कार्यनाद' पैदा होता है (भिद्यमानात्पराद्बिन्दोरव्यक्तात्मा रवोऽभवत्) जो नाना वर्णों में गद्य-पद्यात्मक रूप में प्रकट हो जाता है (वर्णात्मना विभवति गद्यपद्यादिभेदतः)।

कुछ शैवागमों में इसी बात को दूसरे ढंग से कहा गया है। उनके अनुसार शिव के साथ उसकी शक्ति का अविनाभाव सम्बन्ध है इस शक्ति का नाम ज्ञान शक्ति है जो सारी अभिव्यक्ति का निमित्त कारण है शिव शक्ति के संयुक्त तत्व से परिग्रह शक्ति का जन्म होता है जिसका नाम क्रिया शक्ति भी है। वही बिन्दु है जो अभिव्यक्ति का उपादान कारण है। वह शुद्ध और अशुद्ध भेद से दो प्रकार का है शुद्ध बिन्दु को महामाया तथा अशुद्ध बिन्दु को माया भी कहते हैं। शक्ति तथा बिन्दु के सम्बन्ध को विकल्प अथवा भेद भाव कहते हैं।

---

[1] यस्य प्रणवमत्वान्न पूर्वो नापरः स्मृतः ।
अजरम अमरूपश्च भौम्यो नित्य एव ॥
परः परतरं ब्रह्मज्ञानानाममिलक्षणम् ॥
प्रकर्षेण प्रणवं यस्मात् प ब्रह्म स्वभावतः ।
अपर प्रणवं साक्षाच्छब्दरूपं मुनिसत्तम ।
प्रवर्तेण नवरूप हेतुत्वात्प्रणवं स्मृतः ॥

इसी विकल्प द्वारा शिव गुद्ध विदु को क्षुब्ध करता है जिससे शब्द तथा ग्रथ की द्वैत धारा चल पडती है, जो परा, पश्यन्ती मध्यमा तथा वैखरी अवस्थाओं म होकर नाना रूपा म प्रकट होती है। इसी प्रकार अशुद्ध विदु क क्षाभ स भी अभिव्यक्ति होती है।

प्रेरणा का उदगम—अत भारतीय परम्परा क अनुसार शब्दार्थात्मक या गद्यपद्यात्मक काव्य अय सभी प्रकार के काव्य (कला) कर्मों की भाति, आत्मा की अभिव्यक्ति है, जिसको वह अपनी शक्ति या ध्वनि द्वारा अव्यक्त म व्यक्त सूक्ष्म म स्थूल, प्रकृत से व्याकृत तथा एकवणा से अनेक वर्णा करता है। उस शक्ति या माया का धम ही यह है कि वह अभिव्यञ्जना करे आत्मा को अद्वैत से अनेक रूप प्रकट करे।

आत्माभिव्यक्ति म बाह्य विभावा का भी प्रमुख स्थान है। बाह्य विभाव जब हमारी इद्रियो द्वारा हमारे अतजगत् पर प्रभाव डालत हैं, तो हमारे भीतर तदनुरूप सचारी तथा स्थायी भाव उत्पन्न होकर तीव्र होते हुए रसत्व को प्राप्त करत हैं जिसम ओत प्रोत होकर हम व्याकुल हो उठते हैं, भवभूति ने रामचद्र जी की एसी ही अवस्था का वणन करत हुए लिखा है—

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तगू ढघनव्यथ ।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रस ॥

इस व्याकुलता को दूर किये बिना चन नहीं मिल सकता, और इसको दूर करने का एकमात्र उपाय है अभिव्यक्ति—जलप्लव भरे हुए तालाब की एक मात्र प्रतिक्रिया है उसम स जल निर्गत— *पुरोत्पीडे तटाकस्य परीवाह प्रतिक्रिया* । इस 'प्रतिक्रिया के बिना अन्तर्लीन भावोद्रेक मे हम राम की भाँति व्यथित होत हैं और माह में पड रहते हैं—

अन्तर्लीनस्य दु खाग्नेरद्योद्दाम ज्वलिष्यत ।
उत्पीड इव धूमस्य मोह प्रागावृणोति माम्॥

अत बाह्य विभावों मे विभावित यह भाव आत्मा की शक्ति के द्वारा व्यक्त हाता है क्योंकि इसी शक्ति म स्थिर समाधिस्थ चित्त म अभिधेय भाव का स्फुरण होता है और उसको व्यक्त करने के लिए पद आदि विभावित हाते हैं —

मनसि सदा सुसमाधिनि विस्फुरणमनेकधाभिधेयस्य ।
अक्लिष्टानि पदानि च विभान्ति यस्यामसौ शक्ति ॥

इसीलिये मम्मट न काव्य प्रकाश[1] म काव्य के कारणो म शक्ति को प्रमुख

---

१ शक्तिर्निपुणतालोकशास्त्रकाव्याद्यवेक्षणात्।
काव्य शिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे ॥

स्थान दिया गया है। यहाँ, यह बात नहीं भूलनी चाहिये कि जैसा ऊपर कहा जा चुका है, यह शक्ति ही नाद बिन्दु आदि अवस्थाओं में होती हुई शब्द तथा अर्थ दोनों का कारण है, इसी से क्रौंच-वध वाल्मीकि में वह 'अर्थ' उत्पन्न करता है जो काव्य की आत्मा है और इसी से उस आत्मा को आवृत करने वाला नाना वर्णात्मक कलेवर भी उत्पन्न होता है, शोक तथा श्लोक दोनों का कारण एक ही है ध्वन्यालोक में अतः कहा गया है कि—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथाचादिकवेः पुरा ।
क्रौंचद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥

परन्तु काव्य एक अरण्यरोदन नहीं है। यह एक ऐसी अभिव्यक्ति है, जिसे श्रोता की अपेक्षा है इसमें ऐसी ध्वनि है जो प्रतिध्वनि प्राप्ति के लिये उपयुक्त स्थल चाहती है। चाहे कवि स्वान्तः सुखाय ही क्यों न लिखे उसमें वह सामर्थ्य तथा उद्देश्य निहित रहता है जिसमें कवि का प्रेरक भाव श्रोता या पाठक के हृदय में भी उसी भाव को उत्पन्न कर देता है। श्री कुप्पु स्वामी शास्त्री ने वाल्मीकि की कविता के विषय में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये हैं —

बालकाण्ड के द्वितीय सर्ग में उल्लिखित शोक और श्लोक के समीकरण तथा १ २-१८ में अपनी कविता के विषय में स्वयं वाल्मीकि द्वारा व्यक्त विचार द्वारा निस्संदेह यही ध्वनित होता है कि सच्ची कविता गढ़ी नहीं जाती, अपितु वह रस के उत्स से प्रसूत एक सुन्दर एवं नैसर्गिक अभिव्यक्ति होती है और सच्ची कविता का जीवन तथा विकास कलाकार तथा कला-समीक्षक, कवि तथा सहृदय चमत्कार एवं प्रभाव के सरस सश्लेषण पर निर्भर करता है।

अतः काव्य प्रेरणा के उद्गम में जहाँ आन्तरिक 'शक्ति' तथा बाह्य विभाव सहायक होते हैं, वहाँ श्रोता-सापेक्षता भी उसका एक अंग है। श्रोता सापेक्षता को ही समाज-सापेक्षता भी कह सकते हैं, जिसके अन्तर्गत समालोचक भी स्वतः ही आ जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि जो रस किसी बाह्य विभाव के द्वारा कवि के अन्तर्जगत् में विभावित होता है वह काव्य के रूप में अभिव्यक्त होकर पुनः विभाव बनकर सहृदय के भीतर उसी प्रकार के रस को विभावित करता है जिस प्रकार के रस का विभावन कवि के हृदय में काव्य सृष्टि से पूर्व हुआ था। इसलिए जहाँ तक रसानुभूति का सम्बन्ध है, कवि और सहृदय दोनों का वह सुलभ है, परन्तु दोनों के माध्यम पृथक-पृथक हैं—कवि का माध्यम वह विभाव है जिससे प्रेरित होकर उसने काव्यसृष्टि की, जबकि सहृदय का माध्यम कवि का काव्य है जो उसके लिए विभाव बनकर आता है। अस्तु इसमें कोई

सन्देह नहीं कि रस की निष्पत्ति चेतन अन्तजगत् की वस्तु है, चाहे वह अन्तजगत कवि का हो या सहृदय का और इस रस निष्पत्ति म बाह्य विभाव का भी महत्वपूर्ण योग है चाहे वह किसी व्यक्ति वस्तु या दृश्य के रूप म हो अथवा किसी काव्य (कला) के रूप म।

बाह्य अपेक्षा का रहस्य—अस्तु प्रश्न यह है कि यह बाह्य तत्त्वो की अपेक्षा क्यो ? विभावो से हम क्यो आकर्षित होते है और हमारी अभिव्यक्ति समाज सापेक्ष क्यो है ? सम्भवत इसी प्रश्न के सदर्भ म पडितराज जगन्नाथ ने अपने 'रसगगाधर' म रस और रमणीयता को पृथक पृथक माना तथा भरत मुनि ने एक ओर 'सुखदु खसमन्वित' स्वभाव' को स्वीकार किया तो दूसरी ओर वस्तु समाश्रित रस[१] का भी। परन्तु इस प्रसग म प्राय यह भुला दिया जाता[२] है कि 'रसगगाधर' ने रस और रमणीयता मे भेद करते हुए भी रमणीयता को लोकोत्तराह्लादजनकगोचरता कहा है और नाटयशास्त्र ने रसनिष्पत्ति के प्रसग मे प्रेक्षको की 'दैवी' सिद्धि का भी प्रतिपादन किया है। बाह्यतत्त्व की अपेक्षा का अभिप्राय यह नही कि रस की स्थिति बाह्य तत्त्वो म है। वेदो के अनुसार इस अपेक्षा का रहस्य पिण्डाण्ड और ब्रह्माण्ड की तात्त्विक रचना म निहित है। पिण्डाण्ड के अनुसार ब्रह्माण्ड म भी वही पाँच कोश हैं और वहाँ भी विज्ञान मय' जगत् के सूक्ष्म अव्यक्त से स्थूल जगत के स्थूलत्व तथा अनेकत्व का विकास हुआ है। यह कहा जा चुका है कि ज्यो-ज्यों स्थूलता (माया) का आवरण बढता जाता है, त्यो त्यो 'रस स्वरूप' आत्मा परोक्ष होता जाता है और उसका रस मायाशबलित होकर सुखदु खादि अनेक रूपो म प्रकट होता है। साथ ही माया इस परोक्ष आत्मा के रस को शब्दस्पर्शरूपरसगन्धस्पर्शात्मक जगत के रूप म व्यक्त करके उसको भोगने के लिए श्रोत्रचक्षुरसनाघ्राणत्वगात्मक ऐन्द्रिय जगत् का निर्माण करता है। इन दोनो जगतो से एक म चाह है दूसरे म आकर्षण एक म काम है दूसरे म रति की सामग्री एक म इच्छा है दूसरे मे पूर्ति। इस द्वैत सिद्धान्त के द्वारा जहाँ एक को अनेक करके एक पूर्ण को अनेक अपूर्णों म विभक्त कर दिया जाता है वहाँ इन अपूर्णों के भीतर अपने से बाहर पूर्णता खोजने की प्रवृत्ति भी उत्पन्न हो जाती है। इसके फलस्वरूप एक ओर हम बाह्य जगत् के जड विभावो से आकर्षित और प्रभावित होते है

१ ना० शा० ६ १२२

२ ना० शा० ७ १८३

३ देखिये डा० सु० ना० दा० गुप्त कृत 'सौन्दर्यतत्त्व' अध्याय ? और डा० मनोहर काले भूमिका, डा० वरलिगे कृत 'सौन्दर्यतत्त्व और काव्य सिद्धान्त'।

तो दूसरी ओर विश्व के चेतन अन्तर्जगत के साथ उस आकर्षण तथा प्रभाव का आस्वादन भी करना चाहते हैं। अतएव कवि जड़-चेतन के शब्द, रूप, रस गन्ध, स्पर्श से प्रभावित होकर जहाँ बाह्य-जगत् में खोई हुई पूर्णता देखता है वहाँ उससे विभावित भाव या रस की अभिव्यक्ति करके सहृदय प्राणियों के साथ तादात्म्य स्थापित करके पूर्णत्व लाभ करना भी चाहता है। अतः किन्हीं अर्थों में एडलर का यह कहना ठीक है कि कवितादि सारी कलायें अपूर्ण मनुष्य के पूर्ण होने के प्रयास की द्योतक हैं।

६

आनन्द और सौन्दर्य

कुछ विद्वानों का कहना है कि 'सौन्दर्य के स्वरूप तथा उसके लक्षण के सम्बन्ध में हमारे देश में अभी तक कोई विचार ही नहीं हुआ।' डा० सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने अपने ग्रन्थ 'सौन्दर्यतत्त्व'[1] के प्रारम्भ में लिखा है कि—'पण्डितराज जगन्नाथ ने अवश्य ही रमणीय अर्थ के प्रतिपादक शब्द को काव्य की संज्ञा दी थी, किन्तु वह भी रमणीयता के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई गम्भीर विचार प्रस्तुत न कर सके।' वस्तुतः स्थिति इतनी निराशाजनक नहीं है। स्वयं लक्षणग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दावली संकेत करती है कि उनके पीछे एक उच्चकोटि की सौन्दर्यशास्त्रीय परम्परा रही है। उदाहरण के लिए पण्डितराज की 'रमणीयता' को ही ले लीजिए जिसे उन्होंने 'लोकोत्तराह्लादजनकज्ञान गोचरता' कहा है—दूसरे शब्दों में आनन्दजनक ज्ञान की गोचरता ही रमणीयता है। इस परिभाषा के तीन तत्त्व आनन्द, ज्ञान और गो हैं जिनमें से प्रथम दो को हम क्रमशः सोम एवं इन्द्र के वैदिक प्रतीकों में देख चुके हैं और तृतीय (गोतत्त्व), जो वैदिक वाङ्मय में सोम तथा इन्द्र से निकटतम सम्बन्ध रखता है छानबीन करने पर सौन्दर्यानुभूति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग ठहरता है।

वैदिक गोतत्त्व और गोचरता—महर्षि अरविन्द[2] के शब्दों में वेद के समस्त प्रतीकों में गो की कल्पना सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कर्मकाण्डी के लिए गो केवल हाड़ मांस की बनी भौतिक गाय है, और इसके अतिरिक्त कुछ भी

---

१ डा० आनन्दप्रकाश दीक्षित कृत अनुवाद

२ आन द वेद, पृ० १४२

नहीं वेद में गो का सम्बन्ध निरन्तर उषा और सूर्य से है और इसका सम्बन्ध उस आख्यान में भी है जिसमें इन्द्र या बृहस्पति सरमा या अंगिरस की सहायता से अपहृत गायों को पणियों की गुफा से मुक्त करते हैं। उषा सूक्त की साधारण परीक्षा से भी यह बात पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है कि उषा तथा सूर्य की गायें प्रकाश की प्रतीक मात्र हैं, स्वयं सायण को भी इन प्रसंगों में गो शब्द का अर्थ कभी 'गाय' और कभी 'रश्मि' भी करना पड़ा है। वस्तुतः यह स्पष्ट है कि हमें 'गो' शब्द का वास्तविक अर्थ प्रकाश और आलंकारिक एवं स्थूल अर्थ 'गाय' करना है।" अनेक स्थलों पर ऋग्वेद में स्पष्ट संकेत हैं कि वस्तुतः गायें वस्तुतः प्रकाश रश्मियाँ हैं— गायों के झुंड के समान उषा की रश्मियों (४.५२.५) अथवा अन्धकार को हटाकर ज्योति लानेवाली गायों (७.७९.२) का उल्लेख निश्चित रूप से यतलाता है कि जिन गायों को उषा अपने वेग के साथ वल असुर के दृढ़ स्थलों को तोड़कर बाहर निकालती है (७.७५.७) अथवा जिन अरुण गायों को वह अपने रथ में जोड़ती है (१.१२४.११) या जिन गायों की वह जननी (१.१२४.५) कही (७.७६.६) तथा स्वामी (५.७९.८) कही जाती है वे उसी ज्योति की किरणें हैं जिसकी सृष्टि के द्वारा उषा अन्धकार को गायों के बाड़े के समान खोलती हुई (१.९२.४) कही जाती है।

अतः जब उषा को गोमती, उसके रथ को गोमत् हिरण्यवत् अथवा प्रथम उषा को यम की माता कहा जाता है तो स्पष्टतः गो का अभिप्राय ज्योति से होता है और यह ज्योति अन्ततोगत्वा वही आध्यात्मिक गूढ़ज्योति है जिसे सत्यमन्त्रा पितरों ने पाकर उषा को जन्म दिया (७.७६.४)। यही वह चिद्रूपिणी गौरी (गौर चित्र) गाय[1] है जिसको वसु बन्धनमुक्त करते हैं। इसलिये कोई आश्चर्य नहीं कि हृदय और मन के द्वारा वांछनीय चित्र इन्द्र का ही गायों (गावः) के साथ समीकरण किया जाये (६.२८.५) और इन गायों (चिद्रश्मियों) से 'कृश चित्त को पुष्ट तथा 'अश्रीर चित्त को सुप्रतीक करने के लिये कहा जाय (६.२८.६)। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि जिस चित्त अथवा ज्ञान शक्ति का प्रतीक हमने इन्द्र को पाया उसी चित्त शक्ति को गो कहा जाता है जो विज्ञानमय कोश में एक तथा मनोमय में अन्नमय तक अनेक रूपों को धारण कर विचरती है, यहाँ इन्द्र की शक्ति होने के कारण इन्द्रिय भी कही जाती है, और यही कारण है कि विभिन्न अंगों (चक्षु

---

१ यथाह त्यद्वसवो गौर्यं चित्पदिसिताममुञ्चता यजत्रा। (१०,१२७.८)

श्रोत्र आदि) में वास करने वाली इन इन्द्रियों को भी 'गो' की संज्ञा दी गई। अतः जब हम कहते हैं कि हम अमुक वस्तु 'गोचर' हो गए तो उसका अभिप्राय यही है कि हमारी 'गो' (चित्त या इन्द्रिय शक्ति) चक्षु, श्रोत्र आदि के द्वारा उस वस्तु के सन्निकर्ष में आ गई। अतः 'गोचरता' का तात्पर्य चित् शक्ति के साथ किसी विषय का संपर्क ही हो सकता है। इसी गोचरता का सम्बन्ध सौन्दर्यानुभूति से है।

वैदिक सु और सौन्दर्य—ज्ञानशक्ति या चित्त जिस प्रकार हमारे व्यक्तित्व का एक अंग है उसी प्रकार 'सु' या आनन्दतत्त्व भी। अतः वसुओं से प्रार्थना की जाती है कि जिस प्रकार उन्होंने हमारे 'चित्' को बन्धन-मुक्त किया उसी प्रकार वे हमारे 'सु' (सु सम्पन्न) पशु को भी (१० १२७ ८) मुक्त करें, क्योंकि हमारा यह 'सु' वरणीय (१ ६,६) रमणीय (१ ४७ ४) तथा स्वविन्द सु मय है जिसके सैकड़ों सुन्दर रूप (शत सुन्व) एक साथ (१ २२ १) प्रकाशित करते हैं। 'सु' का विरोधी शत्रु 'दु' तत्त्व भी है। अतः भय रहता है कि कहीं वह अतिबलवान् शत्रु निर्ऋति हमारे 'सु' (सुन) का वध न कर डाले (१ ३८ ६)। इसलिए प्रार्थना की जाती है कि यह निर्ऋति तृष्णासहित (१ ३८ ६) नष्ट हो जाए और हम सभी 'दुरितों' (बुराइयों) सभी शत्रुओं (द्वेष) से परे 'ऊ' में अपने 'सु' को ले जावें (१० १२६ ६)। दुरित तथा अंहस उस मनुष्य को व्याप्त नहीं करता जिसको अर्यमा, मित्र, वरुण एक साथ मिलकर (१० १२६ १) शत्रुओं से परे (अतिद्विष) 'ऊ' में ले जाते हैं—हमारा 'ऊ' ही वह स्थान या लक्ष्य है जहाँ हमारा 'सु' रक्षा के लिए ले जाया जाता है और जहाँ अंहस पार करके पहुँचा जाता है (१ १२९ २ [illegible])। वहाँ पहुँचकर हमारा 'सु' स्वस्ति के योग्य हो जाता है। अतः प्रार्थना है कि आदित्य हमें शत्रुओं से परे (अति द्विष) 'स्वस्ति' के लिए (१ १२९ ५) ले जावें। इसी को 'सर्वोपरि अभय स्वस्ति' (६,४७ ८) कहा जाता है। सम्भवतः यहाँ पर 'सु' 'सर्वति' में 'अस्ति' साम्य में निष्पन्न होकर 'स्व' (सु+अस) होकर स्वस्ति (सु+अस्ति) कहलाता है। साथ ही दुरित के सम्पर्क से शोक, संताप अथवा अवसाद से 'सु' अब विस्तीर्ण, बृहत् तथा मुक्त होकर 'उरु' हो जाने से उरु अन्तरिक्ष (१ [illegible] ११ २ २०,२), उरु लोक, उ लोक अथवा केवल 'ऊ' भी कहा जाता है। कभी-कभी साधारण 'सु' से स्वस्ति के 'सु' को भिन्न

---

१ [illegible] का रूप ही यहाँ स्वीकार किया गया है।

(४ ४१ १०) कहने से भी सम्भवतः इच्छाशक्ति की गतिशीलता तथा नियमन अभिप्रेत प्रतीत होती है। अन्यत्र गायों के जिस ऊर्व का सुगोपा पणियों से रक्षित 'अद्रियुध्न निधि' कहा गया है वह गायों, अश्वों, वसुओं से युक्त (१०, १०८, ७) बताई गई। अतः जब देहों के पाशों में बँधे हुए जीवात्मा की कल्पना की गई तो उसे पशु (पाशबद्ध) कहा गया और वह भी विज्ञानमय की इच्छाशक्ति के प्रतीक के रूप में 'ओजिष्ठ अश्व्य पशु' (८ ३४ १६) जो सूर्य के समान चमकता है। परन्तु मनोमय कोश में आकर वस्तुतः आनन्दमय कोश का यह हिरण्मय पुरोधी ही 'गव्य अश्व्य पशु' (१० ४८ ४) हो जाता है। एक दूसरे रूपक में जब इन्द्र सैकड़ों गव्य और अश्व्य को बुनता है (वयति ८ २१ १०) तो मनोमयकोश के भीतर प्राप्त इच्छा और ज्ञान शक्तियों का ही ताना-बाना अभिप्रेत प्रतीत होता है।

वीरतत्त्व का मिश्रण—गव्य और अश्व्य तत्त्वों के साथ इन्द्र-वायु के सूक्तों में एक 'वीर' तत्त्व के मिश्रण का भी उल्लेख मिलता है। इन्द्रवायु के पानार्थ शचियों द्वारा आहृत मधु के अग्रिय सोम (७ ९१ २) को भी सम्भवतः सुभोग्य रयि की सत्ता देते हुए, उस और एक ऐसे राधस का मिश्रित करने की प्रार्थना की गई है जो 'वीर गव्य अश्व्य' (७ ९२ ३) है। शचियों द्वारा आहृत अग्रिय सोम रूपी रयि के साथ उक्त तीन तत्त्वों का मिश्रण उस देवी प्रमति में भी देखा जा सकता है जो 'शचीव इन्द्र' के आगे और विद्यमान वसु (१, ५३ ३) है और जिसको वीरशुष्मा, गोअग्रा तथा अश्ववती (१ ५३ ५) कहा जाता है। इन तीनों तत्त्वों से प्रमति का योग तब होता है जब पहले हम दीप्तिमान इन्दुओं के द्वारा सुमना हो जाय, गायों और अश्व (गोभि अश्विना) के द्वारा 'अमति' का निरोध कर लें इन्द्र और इन्दुओं के द्वारा दस्यु का विदारण कर लें और शत्रुहीन होकर एक प्रबल संकल्प (इषा) के साथ कार्यारम्भ करें (समिषा रभेमहि १, ५३ ४)। विप्र धियों (धीभि) के द्वारा इस प्रमति की इच्छा करते हैं (७ ९३ ३) परन्तु जो विप्र इस प्रमति को चाहता है उसे पहले एक ऐसी पूर्वभाज रयि के लिये प्रार्थना (७ ९३ ४) करनी पड़ती है जिसकी तुलना उपर्युक्त अग्रिय सोम नामक सुभोग्य रयि से कर सकते हैं। यही क्रतु नामक सोमसुति है जिसके द्वारा इन्द्राग्नी हमें सौमनस्य देकर सुमना बनाते हैं, हमारे चारों ओर चित् (ज्ञान) शक्ति का परिनिर्माण करते हैं और हम इन्द्राग्नी के शाश्वत बलों (शाश्वद्भि वाजै) से आवृत (७ ९३ ६) हो जाते हैं। वीर, अश्व और गो से युक्त विज्ञानमयकोश की अग्रिय सोम क्रतु सुति, सुभोग्य रयि अथवा उक्त प्रमति

की भांति अन्यत्र रत्न (७ ७५ ८), वाज (८ ६ १८) तथा इष (६ ४२ ६) को भी गोमत वीरवत तथा अश्ववत कहा गया है। अत प्रश्न होता है कि इच्छा (अश्व) और ज्ञान (गो) के साथ मिश्रित होने वाला यह वीर तत्त्व क्या है?

वीरतत्त्व और क्रियाशक्ति—इस वीरतत्त्व को स्पष्ट रूप से वाजभर कर्मनिष्ठ श्रुत्य (वाजभर वीर श्रुत्य कर्मनिष्ट १० ८० १) कर्मण्य वीर (१ ६१ २०), 'वीर कर्मण्य सुदक्ष' (३, ४ ६४ ७, २ ६) कहा जाता है। यद्यपि यह कर्मण्य या कर्मनिष्ठ वीरतत्त्व मूलत अग्नि की क्रियाशक्ति का प्रतीक है परन्तु रमणशील त्वष्टा के तुरन्त व्याप्त होने वाले पोषक तत्त्व के सम्पर्क से ही वह 'कर्मण्यसुदक्ष (३, ४ ६, ७ २ ८) होता है। रमणशील त्वष्टा के तुरन्त व्याप्त होने वाले पोषक तत्त्व को अश्व माना जा सकता है, क्योंकि अश्व का अर्थ ही तुरन्त व्याप्त होने वाला है और, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वह है भी रमणशील सोम की इच्छाशक्ति का प्रतीक। अत कोई आश्चर्य नहीं कि अग्नि केवल वीर या वीरवत अथवा अधिक-से अधिक कर्मनिष्ठ श्रुत्य को देने वाला है तो सोम को गो एव अश्व के साथ साथ 'वीर कर्मण्य को देने वाला (१ ६१ २०) कहा गया है। वस्तुत विज्ञानमय की 'सोमसुति (अश्व), मनोमय इन्द्राग्नी की 'इन्द्र श्रुत्य' (ज्ञानशक्ति रूपी गो) तथा कर्मनिष्ठ श्रुत्य (वीर) इन तीनो के सग्रहण से ही यज्ञ कर्म का समारम्भ सम्भव है। अत ऋ० १, ५३ में यज्ञ कर्म के समारम्भ के लिए आवश्यक कर्मैषणा (इषा) और प्रमति को क्रियाबल (वीर) ज्ञानबल तथा भावनाबल (अश्व) से युक्त करने के लिए (४ ५) शचीयुक्त इन्द्र से एक रत्न या वसु का सग्रहण (३) करना होता है, और यह रत्न या वसु है एक प्रकार का चित्' अथवा ज्ञानशक्ति जो इन्द्र को ही सुगम है (१) क्योंकि उक्त अश्व, गो एव वसु का सम्बन्ध इन्द्र (२) से ही है।

यवन (मिश्रण) और वायु—वीर-गव्य अश्व राधस की जिस मिश्रण क्रिया का उल्लेख किया गया है उसके लिये मिश्रणार्थक 'यु धातु का प्रयोग होता है (८ ६२ ३) और उसका कर्ता वायु एव उसके तथाकथित घोडे (नियुद्भि) भी यु धातु से सम्बन्ध रखने प्रतीत होते हैं (७,६२ ३ ५) इन्द्रवायु का सयुक्त रूप भी नियुत्वाना नियुत से सम्बन्धित है और उन्हे स्पार्हवीरा' (७,६१ ५) कहा गया है। उक्त मिश्रण की पूर्णता प्राणमय स्तर पर प्रतीत होती है, इसीलिये मनोमय (द्यु) तथा अन्नमय (पृथिवी) दोनो के इस प्रसारण स्वरूप प्राणमय को आयु' (चारो ओर से मिश्रणशील) सज्ञा देकर

ज्ञान (मनीषा) शक्ति के साथ प्रवाहित होने के लिए जिस तन्तुजाल का आश्रय लेता है वह हमारे शरीर में तन्तुओं उपतन्तुओं प्रतन्तुओं आदि के सूक्ष्म से-सूक्ष्म भागों में विभक्त है। ऋग्वेद में इसीलिये सोम को वितन्तसाय्य यज्ञ (८ ६८, ११) कहा गया है जिसकी तुलना उस यज्ञ से की जा सकती है जो एक सौ देवकर्मों द्वारा वितत (१० १३०) बतलाया गया है। साधारणतया ये मनोमय इन्द्र के ज्ञानेंद्रिय और कर्मेन्द्रिय रूप में दो ही अश्व है, परन्तु (८ ६८ १५) मनोमय प्राणमय तथा अन्नमय कोषों के भेद से छ अश्व (८ ६८ १७) हो जाते हैं जिनमें से प्रत्येक के साथ सोमरूपी वधू हो जाने से ये वधूमान कहे जाते हैं (६ ६८ १७), और इस प्रकार ये छ जोड़े (षट द्वाद्वा) सोम के व बारह नर हो जाते हैं जो रूपमय (रूप्या) तथा स्वादुरातिमय (स्वादुरातय) है (८ ६८, १४) एवं जिनकी दूसरी दृष्टि से सुन्दर रूप वाले तथा सुन्दर रश्मियों वाले (सुपेशस सुअभीशून्) अश्वों (८, ६८, १६) के रूप में कल्पना की गई है। इस तन्तुजाल में विभक्त सौन्दयतत्त्व सोम सु कहलाता है जो विज्ञानमय कोश में सूय (सु+उय[1]) हो जाता है इन्द्र की सहायता से हम इस सूय में महत धन (महानन्द) प्राप्त करते हैं (८ ६८, ६) क्योंकि इसी सोम के संयोग से इन्द्र की मैत्री और प्रणीति (८ ६८ १०) सभी स्वादु है और इसी सु+ऊय (सूय) सोम का आनन्दमय कोश की उरु ज्योति में परिणत करना ही लक्ष्य होने के कारण, यही प्रार्थना रहती है कि हमारे प्रत्यक तन्तु (तन्वे) प्रतन्तु (तने) के लिये तथा निवास (क्षयाय) और जीवन के निमित्त हम उरु करो हम 'उरु प्रदान करो (८ ६८ १२) हम अपने प्राणों (तन्य) के लिये अपनी ज्ञानशक्ति (गव) के लिये तथा जीवन रथ के लिये उरु प य देवमार्ग का मनन करें (८ ६८ १३)।

अत ज्ञान-तन्तुओं और क्रिया-तन्तुओं के उक्त विस्तृतजाल के द्वारा ही आनन्दमय कोश की उरु ज्योति' या परमानन्द के अमरत्व बिन्दु (इन्दव) मनोमय से लेकर अन्नमय तक हमारे व्यक्तित्व के सूक्ष्म और स्थूल स्तरों पर निरन्तर बिखरते हुए इस तत्त्व को प्रवाहित करने का प्रयत्न करते हैं परन्तु इसके विरुद्ध पणि अथवा वृत्र का असुर-तत्त्व उसके प्रवाह को क्षीण सकीर्ण एव अवरुद्ध करने के लिये अपनी असुरमाया के अनेक आवरण डालकर जीवात्मा को पुरमाय्य (८ ६८ १०) बद्ध (८, ६७ १४, १८) निश्चेष्ट (८ ६७ १२) कर देता है, अत ज्ञानशक्ति के चित् रूप द्वारा पुरमाय्य' की रक्षा करने, बद्ध

---

१ वैदिक धातु ऊ+य (तु०क० दराय आदि अरण्य आदि शब्दों में प्राप्त धातु)

का व धन स मुक्त करन निष्चेष्ट को गति प्रसार एव जीवन दन क लिए प्राथना की जाती है। यदि यह प्राथना न सुनी गई तो सु-तत्त्व का सवथा हनन हो सकता है अत आदित्या स आग्रह है कि व इस हत्या स पूव (पुरा इत्यात्) ही हमारी सहायता करें (८, ६७ ५), इन्द्र स विनय है कि वह ऋतु द्वारा पणिया का अभिभूत (८ ६६ १०) करके अमति क्षुधा अभिशस्ति (८, ६६ १४) आदि क ध्वसक तत्त्व (८ ६६ १५) का निवारण करें परन्तु इन ध्वसक तत्त्व का निवारण सोम क सवन स ही सम्भव है जिसकी प्राप्ति एक विचित्र धी (चित्रया धिया) क द्वारा ही (८ ६६ १४) हो सकती है। यह धी सभवत वही 'अरुपी अगावती प्रजा है जो इन्द्र के उपयुक्त सवो क भीतर सम्यक रूप स सवन चित् (आचेतत्) प्रकाश करती है (८ ६८ १८) और जिसको अन्यत्र धिय प्रत्नाम् अमृतस्य पिप्युषीम् (८ ६५ ५) धिय घृताची (१ २ ७) अथवा सु पूर्व्यां धिय मधोघ तस्य पिप्युषीम् (८ ६ ४३) कहा गया है। जसा कि पहले कहा जा चुका है इस धी स सबधित यह अमृत घत या मधु घत वही सोम रूपी घत है जिसको मधुमान ऊर्मि विज्ञानमय रूपी समुद्र स प्रादुभूत (४ ५८ १) होती है विज्ञानमय कोश मे ही सु सूय हो जाता है अत विज्ञानमय स उदभूत यह धी या शक्ति ही विज्ञानमय मे वृद्धि प्राप्त (पज यवृद्ध) सोम को लानेवाली सूय-दुहिता (९ ११३ ३) अथवा सोम द्वारा सवप्रथम प्राप्त की जानवाली सूया (१० ८५,४०) है यह सूर्या या सूयदुहिता निस्सन्देह धी है क्योंकि वह मनोमय रथ (अनो मनस्मय) पर चढकर चलती है जिसक श्रोत्र रूपी पहिए तथा व्यानप्राणरूपी धुरी है (१० ८५,११ १२)। सोम इसी धी रूपी सूर्या का वधूयु (१०,८५ ९) है, इसीलिए उसक आत ही सोम का अभिषवण और सपूण ध्वसक तत्त्व क स्वय पलायन करन की आशा बलवती हो जाती है। यह स्वाभाविक है क्योंकि उसम ज्ञान (गो) इच्छा (अश्व) और क्रिया (वाज) शक्तिया क बीज होने स वह धी तीनों की दात्री (९ ४७ १०) और उपयुक्त तन्तुजाल क प्राणरूपी शूर नरो द्वारा वृत्रहत्या करवाकर सपूण आसुरी माया (विश्वा अदवी माया) को समाप्त करानेवाली प्रशस्ता धी (७ १ १०) है। विज्ञानमय क ऊ की शक्ति होन स इसी पुरुवणा धी (१ १४४,१) को उमा हैमवती कहा जा सकता है जिसक द्वारा केन उपनिषद म ब्रह्म रूपी यक्ष क विषय म पता चलता है यही आगमा की पराशक्ति तथा त्रिपुरसुन्दरी देवी है जो त्रिपुर क समस्त असुरा का विनाश करने म समथ होती ह।

॥ सोमा इद सुतो अस्तु कलयो मा बिभीतन।
अपदप ध्वसमायनि स्वय वैषो अपायात (८,६६,१५)

सुन्द और उपसुन्द—सूर्यारूपा उक्त धी मनोमय (सूक्ष्मदेह) में आकर उसके तीन क्षेत्रों में विभक्त हो जाती है ये क्षेत्र क्रमशः सोम गन्धर्व और अग्नि है जो १० ८५,४० में सूर्या के क्रमशः तीन पति कहे गये है। इनको सूक्ष्म मन के क्रमशः आनन्दमय, वासनामय तथा मन्युमय क्षेत्र कह सकते हैं पहले में मरुद्गण इन्द्र की ज्ञानशक्ति (मन्म) की प्रधानता है दूसरे में वसुगण विश्वावसु की वासना या इच्छाशक्ति की और तीसरे में रुद्रगण अग्नि की मन्युमय क्रियाशक्ति की। स्थूलदेह में यही तीनों स्थूल मन के क्रमशः भाव काम और कर्म का रूप धारण कर लेते हैं और वे सूर्या के मनुष्यजा पति (१० ८५ ४०) कहलाते हैं। मन अपने उक्त सूक्ष्म और स्थूल रूपों में उसी सोमवाहिनी सूर्यारूपा धी को भावना कामना और क्रिया के रूप में विभक्त करके उसके द्वारा बाह्य जगत् के साथ हमारे आत्मा का सबन्ध स्थापित करता है। बाह्यजगत के रूप आदि हमारी ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा हमारे स्नायु में किसी क्रिया का जन्म देते है जिसके फलस्वरूप हमारे सूक्ष्म मन में कोई प्रियभावना उद्बुद्ध होकर किसी आह्लादजनक ज्ञान की घोषणा करती है तथा कामना और क्रिया को साथ लेकर अनेक प्रकार के अनुभावों में व्यक्त होती है। यह आह्लादजनक ज्ञान जिस रूप आदि के सदन में गोचर होता है उसी को हम सुन्दर कहते हैं और जो धी यह सब व्यापार करती है उसे विश्वपेशसम् धियं (१ ६१ १६) या वाजपेशसम् धियम् (२ ४६) कहा जाता है। इसी धी के अधोमुखी रूप द्वारा हमारा सूक्ष्म और स्थूल मन बहिर्मुखी ज्ञानेन्द्रियों के माध्यम से बाह्य पदार्थों के सम्पर्क में आकर सुखम् (सुम्) की अनुभूति उत्पन्न करते है इसीलिए पुराणों में इन्हें क्रमशः सुन्द और उपसुन्द कहा जाता है। इस अधोमुखी या बहिर्मुखी धी को देवी (३ १८ ३) या प्रशस्ता धी (७ १ १०) बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि यह ऊर्ध्वमुखी (ऊर्ध्वा शुचिपेशस धियम्, १ ४४ १) होकर मनोमय से ऊपर उत्तर युग में भी जाय उत्तरायण भी हो परन्तु उक्त सुन्द और उपसुन्द असुनीति से प्रभावित होकर ऊपर की देववीति (उत्तरायण मार्ग) को बंद करके असुरत्व का साम्राज्य स्थापित करते हैं। इन दोनों के नाश के लिए तिलोत्तमा का अवतार आवश्यक है। तिलोत्तमा वही ऊर्ध्वमुखी धी है जिसे ऊर्ध्वा शुचिपेशसम् कहा जाता है (१ ४४ १), और जो आँख की तिलाकार पुतली को दोनों भौंओं के बीच ऊर्ध्वमुखी (उत्तमा) करके ध्यान धारणा समाधि द्वारा ही प्राप्त होने के कारण तिलोत्तमा कहलाती है। इस तिलोत्तमा के अवतरण से उक्त सुन्द और उपसुन्द नष्ट हो जाते हैं और उनके साथ असुनीति पर आश्रित असुरों का अशिव साम्राज्य

समाप्त होता है और उसके स्थान पर देवों का शिवत्व शासन करने लगता है। अतः असुरों की अन्धी (आसुरी) माया (१११०) को समाप्त करने के लिए जीवन की इच्छा से प्रेरित होकर ऋग्वेद में प्रार्थना की जाती है कि लोह धारा (अयसो धारा) के समान हमारी तीक्ष्ण बुद्धि को प्रेरित करो —

इन्द्र मृळ मह्यं जीवातुमिच्छसे
चोदय धियमयसो न धाराम् (६ ४७,१०)

मुद, सुन्दर और सौन्दर्य —वस्तुतः हमारा मन ही सुमुं अनुभूति का शाता होने से मुद है और जिस वस्तु या विभाव द्वारा आकर्षित होकर मन में अनुभूति विभावित होती है उसे सुन्दर कहा जाता है अतः उस वस्तु या विभाव के आकर्षण को ही सौन्दर्य कह सकते हैं। इसीलिए मनोहारिता मनोरमता आदि शब्द सौन्दर्य के पर्यायवाची समझे जाते हैं। परन्तु प्रश्न हो सकता है कि यह आकर्षण क्या है और क्यों है? यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि चुम्बक और लोह के बीच आकर्षण क्या है और क्यों है? तो सम्भवतः बहुत उचित नहीं होगा क्योंकि हम में से प्रत्येक जानता है कि हमारा आत्मा बहिर्मुखी इन्द्रियों (पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भू) द्वारा बाह्य-जगत् के प्रति आकर्षित होने के लिए मानो स्वभावतः उत्सुक होकर कुछ खोज-सा रहा है कोई रूप कोई शब्द कोई गन्ध कोई रस या कोई स्पर्श उसे अपने सौन्दर्य से लुभाता है और वह मुद होकर उस भोगने की कामना से प्रेरित होकर चेष्टा प्रारम्भ कर देता है सम्भवतः इसलिए कि वह जिस अज्ञात वस्तु को खोज रहा है उसको उस उस रूप प्राप्ति में पाने की आशा है बार-बार यह आशा निराशा में बदलती है पर कामना फिर भी बनी रहती है—कहाँ है इस कामना का वस्य, कहाँ है उसका वसु? वेद को इसका समाधान हो गया प्रतीत होता है अतः वे ण अग्नि इन्द्र प्राप्ति में निश्चयात्मक ढंग से वस्य या वसु प्रदान करने के लिए प्रार्थना की जाती है वह है वही स्ववती ज्योतिर्मय स्वस्ति — हमारा ही अपना परमानन्दमय—स्वरूप।

समाप्त होता है और उसके स्थान पर देवों का निर्वल शासन करने लगता है। अन्त असुरों की अन्वी (आसुरी) माया (७ १ १०) को समाप्त करने के लिए जीवन की इच्छा से प्ररित होकर ऋग्वेद में प्रार्थना की जाती है कि लौह धारा (अयसो धारा) के समान हमारी तीक्ष्ण बुद्धि को प्ररित करो —

इन्द्र मृळ मह्य जीवातुमिच्छस
चोदय धियमयसो न धाराम (६,४७,१०)

सुद, सुन्दर और सौन्दय —अस्तु हमारा मन ही सुम अनुभूति का दाता होने से सुद है और जिस वस्तु या विभाव द्वारा आकर्षित होकर मन में अनुभूति विभावित होती है उसे सुन्दर कहा जाता है अत उस वस्तु या विभाव के आकर्षण को ही सौन्दय कह सकते हैं। इसीलिए मनोहारिता मनोज्ञता आदि शब्द सौन्दय के पर्यायवाची समझे जाते हैं परन्तु प्रश्न हो सकता है कि यह आकर्षण क्या है और क्यों है ? यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि 'चुम्बक और लोह के बीच आकर्षण क्या है और क्यों है ?' तो सम्भवत बहुत उचित नहीं होगा, क्योंकि हम में से प्रत्येक जानता है कि हमारा आत्मा बहिर्मुखी इन्द्रियों (पराञ्चि खानि व्यतृणत स्वयम्भू) द्वारा बाह्य-जगत् के प्रति आकर्षित होने के लिए मानो स्वभावत उत्सुक होकर कुछ खोज सा रहा है कोई रूप कोई शब्द कोई गन्ध कोई रस या कोई स्पर्श उसे अपने सौन्दय से लुभाता है और वह सुद होकर उस भोगने की कामना से प्ररित होकर चेष्टा प्रारम्भ कर देता है सम्भवत इसलिए कि वह जिस अज्ञात वस्तु को खोज रहा है उसको उस उस रूप आदि में पाने की आशा है बार-बार यह आशा निराशा में बदलती है, पर कामना फिर भी बनी रहती है—कहाँ है इस कामना का वस्य' कहाँ है उसका वसु ? वेद का इसका समाधान हो गया प्रतीत होता है, अत वे ण अग्नि इन्द्र आदि से निश्चयात्मक ढंग से वस्य या वसु प्रदान करने के लिए प्रार्थना की जाती है, वह है वही स्ववती ज्योतिर्मय स्वस्ति — हमारा ही अपना परमानन्दमय—स्वरूप।

❂